श्री महावीराय नमः

श्रीमत् सुदर्शन गुरवे नमः

अनुप्रेक्षा की उमंग

भाग-1

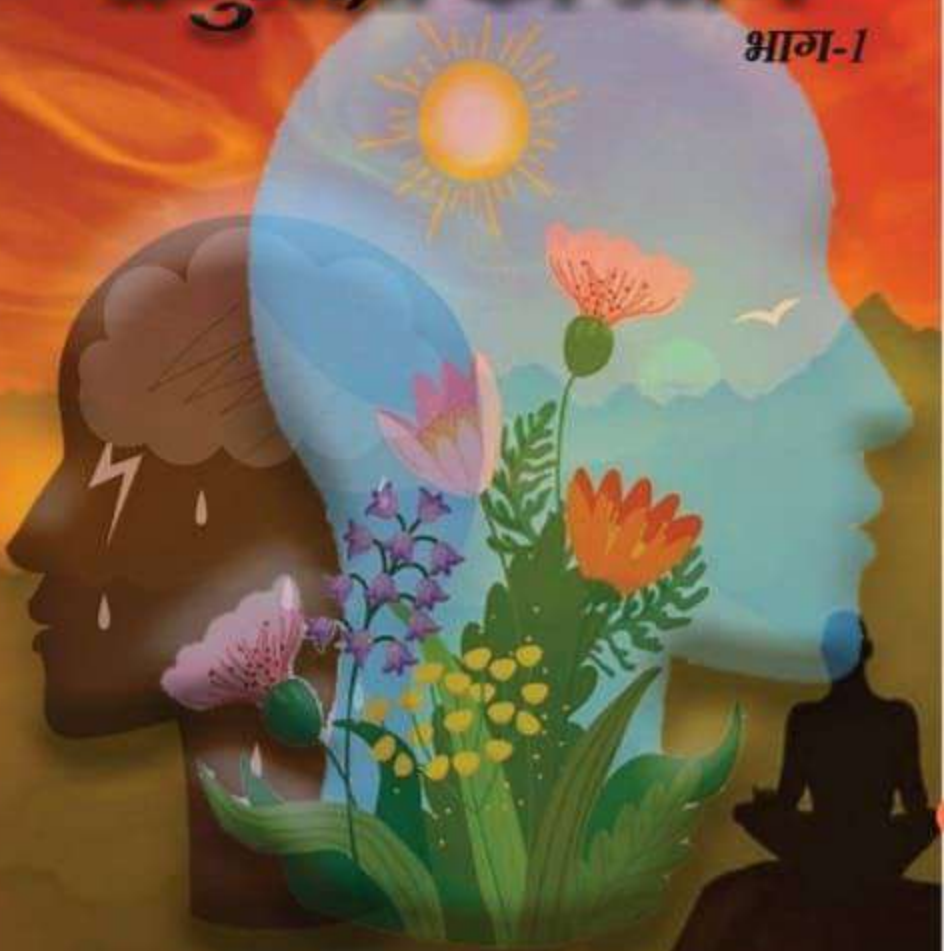

संघ शास्ता शासन प्रभावक श्री सुदर्शन लाल जी म.
के सुशिष्य बहुश्रुत आगम ज्ञान रत्नाकर

श्री जय मुनि जी म.

का कुछ प्रासंगिक विषयों पर चिंतन

जय विनयासन प्रकाशन

अनुप्रेक्षा की उमंग भाग-1 जय मुनि

अनुप्रेक्षा की उमंग

भाग-1

जय जिनशासन प्रकाशन

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय सूची	पृष्ठ
	प्रकाशकीय	iv
1.	धर्म और सम्प्रदाय	1
2.	स्थानक और मन्दिर	11
3.	भाग्यवाद बनाम पुरुषार्थवाद	37
4.	क्रियावाद एवं कर्मबंध	48
5.	दया-पौषध	66
6.	"नवकार मन्त्र की एकरूपता को कायम रखिए"	75
7.	अस्पताल से काल करने वाले की गति	87
8.	अक्षय तृतीया अर्थात् भगवान् ऋषभदेव का पारणा दिवस	92
9.	जमीकंद की ग्राह्यता अग्राह्यता की समीक्षा	99
10.	प्रासुक पानी की एक विधि जो अनागमिक और हिंसावर्धक है	112
11.	कर्मादान एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं है	124
12.	श्रावक- प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में एक चिन्तन	146
13.	श्रावक केश लोच - आगमेतर सोच	167

प्रकाशकीय

'अनुप्रेक्षा की उमंग' नामक लेखों की शृंखला काफी अरसे से हस्त लिखित डायरियों के रूप में जिज्ञासु पाठकों के लिए उपलब्ध हो रही थी। इन लेखों में जैन धर्म, स्थानक वासी परम्परा से सम्बद्ध कुछ विषयों पर विचार, तथा पुनर्विचार किया गया है। ध्येय यही रहा है कि जैनत्व को तर्क संगत विधि से प्रस्तुत किया जाए। आगमों की मौलिक भावना की सुरक्षा रहे तथा पश्चाद्वर्ती काल में जुड़ गई मान्यताओं के जाले हट जाएं। ये भाव इस लेखन का रहा है। विचार केवल बौद्धिक व्यायाम न रहे। यह मानसिक परिवर्तन तथा आचरण में भी परिणत हो तभी विचारों की सार्थकता है।

प्रस्तुत विचारों का लेखन संघ शास्ता शासन प्रभावक श्री सुदर्शन लाल जी म. के सुशिष्य बहुश्रुत आगम ज्ञान रत्नाकर श्री जय मुनि जी म. ने किया है। हमें संतुष्टि है कि ये विचार प्रबुद्ध पाठकों की पिपासा को तृप्त करेंगे तथा जिज्ञासा को बढ़ाएंगे।

पूज्य गुरुदेव संघ शास्ता शासन प्रभावक श्री सुदर्शन लाल जी म. के जन्म शताब्दी की संपूर्ति पर इस शृंखला का प्रकट होना हमारे लिए परम हर्ष का विषय है। पूज्य गुरुदेव की कृपा लेखक, पाठक, प्रकाशक सब पर समान रूप से बरसती रहे। इसी मंगल कामना के साथ...

"जय जिनशासन प्रकाशन"
रविन्द्र जैन

धर्म और सम्प्रदाय

सन् 1981 से 1993 तक सिक्ख धर्म का एक वीभत्स रूप दुनिया को देखने को मिला। सेवा और सादगी के लिए विख्यात सिक्ख धर्म पर कुछ कट्टरवादी लोग हावी हो गए और उन्होंने सामान्य सिक्ख के मानस में नफरत का विष भर दिया। उन्होंने गुरु नानक देव की भक्ति धारा का रसास्वाद छुड़वा दिया और केवल केश, कंघा, कड़ा, कच्छा और कृपाण (पांच कक्के) के प्रसार, विस्तार और सुरक्षा में ही संपूर्ण सिक्खी को केन्द्रित कर दिया। जब धर्म की आत्मा-सहिष्णुता-निकल गई तो मतांधों ने निरीह जनता पर जुल्म ढ़ाने शुरु कर दिए। घृणा फैलाने वाले प्रचारक सर्वश्रेष्ठ संत के रूप में पूजे जाने लगे। सिक्खों के पवित्रतम स्थल-स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त उनकी शरणस्थली बने। आप्रेशन ब्ल्यू स्टार हुआ। देश की प्रधानमंत्री की हत्या, सिक्खों का कत्ले आम, पंजाब में हिंदुओं पर जुल्मोसितम, बेगुनाहों का पलायन आदि लोमहर्षक घटनाओं का अध्ययन करते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जब सिक्खों ने धर्म को छोड़कर सम्प्रदायवाद को सिर पर चढ़ा लिया तो उनका स्वरूप ही बदल गया। उन्होंने गैर-सिक्खों का तो जानी माली नुक्सान किया ही किया, सिक्ख धर्म का उससे भी अधिक अहित किया। अन्य समाजों में सिक्ख-धर्म के संबंध में यह धारणा बन गई कि यह धर्म क्रूरता की शिक्षा देता है।

दूसरा दुष्परिणाम यह निकला कि गुरुद्वारों में प्रतिदिन जाने वाले हिन्दुओं ने वहां जाना बंद कर दिया और जो चढ़ावा उनसे वहां प्राप्त होता या, वह भी रुक गया। इस प्रकार सिक्खों ने कट्टरता को प्राथमिकता देकर अपना द्रव्य और भाव दोनों ही पहलुओं से नुक्सान किया। प्रबुद्ध चिंतकों की प्रतिक्रिया यह रही– "क्या बताऊं क्या नहीं है और क्या खतरे में है, आंधियां ऐसी चली हैं, हर दिया खतरे में है।

गुरुद्वारों-मंदिरों पर आज पहरे हैं लगे, वाहे गुरु खतरे में हैं, परमात्मा खतरे में हैं।"

इस्लाम की स्थिति इससे भी अधिक शोचनीय रही है। आज विश्व भर में इस्लाम को जाहिल, दरिंदे, खूंखार, असभ्य, जंगली लोगों का धर्म माना जाने लगा है। भाईचारे और गरीबनवाजी की सुंदरतम तस्वीर टूट कर बिखर चुकी है। सिर्फ पांच वक्त की नमाज, लंबी दाढ़ी और कुरान की आयतें और मदरसों की पढ़ाई मुस्लिम समाज की पहचान बन गई है और यह पहचान किसी बाहरी साजिश के फलस्वरूप नहीं बनी अपितु उन्हीं के कठमुल्ला लोगों की प्रवृत्तियों से बनी है। जगह-2 बम धमाके करके मस्जिदों में बैठ जाना, World Trade Centre को भूमिसात् कर इस्लाम की जय बोलना, अफगानिस्तान के हजारों वर्ष पुराने बुद्ध स्तूपों को और बिम्बों को तोड़कर इस्लाम की असली सेवा मानना, ये उन लोगों का चरित्र रहा है। पर इन्हें क्या मिला है, क्या मानवता को मिला है और क्या उनके धर्म और खुदा को मिला होगा?

बहुत दिनों से बंद पड़े थे, खैर से इनके नाम तो आए।
दीन धर्म के इन झगड़ों में, मंदिर मस्जिद काम तो आए ॥

इन धर्मों के बिगड़ते स्वरूप से चिंतित मेरा मन अपने उत्तम धर्म-जैन धर्म के बारे में और चिंतित होता रहा है। हमारे कुछ धर्म गुरु और अनुयायी कहीं उसी पटरी पर तो सवार नहीं हो जाएंगे, जिस पर सिक्ख और मुसलमान चले थे या चल रहे हैं। यह खतरा हर धर्म को है। आज Fundamentalism लगभग सभी धर्मों में प्रविष्ट होता जा रहा है। उसे सम्मान मिल रहा है; प्रोत्साहन मिल रहा है। जैन धर्म ही एक ऐसा निखालिस धर्म है जिसने प्रत्येक धर्म, दर्शन, सिद्धांत और मान्यता के प्रति सहिष्णुता और सकारात्मकता का रुख रखा है। स्याद्वाद, अनेकांतवाद की सर्वग्राही चिन्तनधारा ने यही सिखाया कि सत्य का एक पहलू नहीं; अनन्त पहलू हैं, केवल एक पहलू को ही सत्य-अंतिम एवं संपूर्ण सत्य-मानना मिथ्यात्व है तथा अपने द्वारा ज्ञात स्वीकृत पहलू

की सत्यता के साथ-साथ अन्य पहलू भी होते हैं ये मानना सम्यक्त्व है। परंतु धर्मात्मा आदमी की यह मजबूरी या कमजोरी रही है कि वह जिस विषय को जान रहा है, जिस क्रिया को कर रहा है, जिन प्रतीकों को अपना रहा है, उन्हें दृढ़ता से अपनाने के साथ-साथ और किसी विषय, क्रिया, आचरण और प्रतीक को झुठलाना भी अपनी धार्मिकता का अनिवार्य अंग मान लेता है। शायद उसके मन में यह बात घर कर जाती है कि ऐसा नहीं करूंगा तो मेरी धर्म-श्रद्धा दुर्बल और अस्थिर मानी जाएगी। जबकि वास्तविकता ये है कि ऐसी श्रद्धा दृढ़ न होकर अंधी होती है। अंधे आदमी शायद ज्यादा दृढ़ और आग्रही होते हैं। जैनाचार्यों ने छह अंधों और एक हाथी की कहानी के माध्यम से यह तथ्य भली भांति उजागर किया है।

स्याद्वाद की उच्चतम दृष्टि पाकर भी जैन धर्म चार बड़े विभाजनों का तथा सैकड़ों छोटे विभाजनों का शिकार हुआ, यह एक चिंतनीय विषय है। यह विभाजन का दौर अभी रुका नहीं है। नई-नई दरारें नित्य इसमें उभर रही हैं। यह और भी चिंता का कारण है।

विभाजन कभी भी सिद्धान्ताधारित नहीं होता; या तो यह अहं भाव के कारण होता है या अज्ञान के कारण।

जब कोई सशक्त व्यक्ति सिद्धांत के एक अंग को पकड़ कर उसे ही पूर्ण मान लेता है और उसका प्रबल प्रचार करने लगता है तब उससे भिन्न अंगों से परिचित व्यक्तियों से स्वतः कट जाता है या वे अंग उससे कट जाते हैं। विभाजक वृत्ति के लोग धर्म को कभी नहीं पकड़ते। वह पकड़ते हैं कुछ बाह्य क्रियाओं को, पूजा विधियों को, शब्दों; ग्रंथों को, बिम्ब और प्रतीकों को। धर्म तत्त्व तो विवाद का विषय हो नहीं सकता। अतः वे उसकी घोर उपेक्षा करते हैं और पकड़ लेते हैं पूरी ताकत के साथ कुछ प्रतीयमान रूपकों को, जिन्हें वह खुलकर दिखा और सुना सकते हैं। इसी मनोवृत्ति का नाम है 'साम्प्रदायिकता'। पर यह भी एक पहेली ही है कि धर्म और सम्प्रदाय दोनों नितान्त भिन्न होते हुए

भी परस्पर जुड़े हुए, अविभाज्य, सहवर्ती ही होते हैं। धर्म पानी है तो सम्प्रदाय पात्र है। धर्म दवाई है तो सम्प्रदाय कैप्सूल है। धर्म आत्मा है तो सम्प्रदाय शरीर है। इनको न अलग किया जा सकता है न एक समझा जा सकता है। बस दोनों के मूल्य, उपयोगिता एवं महत्ता को जान लेना आवश्यक है तथा ये सावधानी भी जरूरी है कि असली कार्यसिद्धि धर्म से होगी; सम्प्रदाय से नहीं। सम्प्रदाय को प्राथमिकता देना अपना और अपने धर्म का अवमूल्यन करने के तुल्य है।

जैन समुदाय को ही लें। यदि मूल सिद्धांतों का संकलन करें तो चारों सम्प्रदायों में कोई भिन्नता नहीं है। मतभेद के लिए कोई संभावना नहीं पर जो भी विभाजन है वह तो छोटी-छोटी नगण्य सी बातों का है जिसे लोग इतना बढ़ा चढ़ा कर पेश कर देते हैं कि मानो चारों सम्प्रदायों में कोई समान बिंदु है ही नहीं। साम्प्रदायिक चिन्तन सदा विभाजनों को मुखर करता है और अपनी अधिकार लिप्सा को इस माध्यम से पूरा करता है। मोहम्मद अली जिन्ना ने इसी साम्प्रदायिकता को उभारकर देश का विभाजन करा दिया और लाखों लोगों को मौत के घाट उतरवा दिया, लाखों लोगों को बेघरबार करवा दिया। जैन धर्म में ऐसी भयंकर साम्प्रदायकिता तो कभी नहीं पनपी, न शीघ्र भविष्य में पनपने की संभावना है क्योंकि अभी भी अधिकांश जैन अहिंसा के सिद्धांतों को मानते हैं। वे भाव हिंसा से नहीं तो कम से कम द्रव्य हिंसा से बचने का प्रयत्न तो करते ही हैं लेकिन जैन धर्म में फैली साम्प्रदायिकता ने मानसिक विद्वेष को बहुत बढ़ाया है और यह विद्वेष भी जैनेतर वर्ग से उतना नहीं जितना परस्पर जैनों से ही है। जैनों के लिए निम्नोक्त शेअर अधिक उपयुक्त है।

दोस्ती गैरों से करते हैं, अपनों से लड़ते हैं।
तभी बर्बादियां आती हैं, तब ही घर उजड़ते हैं॥

दिगम्बर जैन श्रावकों को यदि कोई श्वेताम्बर मुनि दिखाई दे जाए तो 90% केसों में उन के हाथ नहीं जुडेंगे क्योंकि उन्हें एक ही संस्कार

में पाला गया है कि वस्त्र पहनने वाला साधु नहीं होता तथा असाधु को साधु समझना, सम्मान देना, वंदना करना, आहारादि से प्रतिलाभित करना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व जैसा महापाप वह क्यों करें? राह चलते अनजान व्यक्ति से वह हंस कर बोल सकता है पर वह अपने ही धर्म के भिन्न पक्षीय संत को वंदना नहीं कर सकता। इसे हम साम्प्रदायिकता समझ सकते हैं। यह साम्प्रदायिकता दिगम्बरों में ही नहीं, श्वेताम्बरों में भी है। वह दिगम्बर मुनियों की कठोर चर्या का गुणानुवाद नहीं कर सकते। बस कुछ बातें उछाल देंगे। इनका आहार सोद्देश्य होता है। इनके शुद्धिवाद में छः काय के जीवों की हिंसा होती है। केवल नकारात्मक दृष्टिकोण होगा अपने ही सहोदर संघ के प्रति। ये सब साम्प्रदायिकता गृहस्थ वर्ग की देन न होकर साधुवर्ग की देन है। उन्हें अहर्निश यह फिक्र रहती है कि हमारे गुट से दूसरे गुट को ज्यादा मान्यता न मिल जाए, ज्यादा अनुयायी उनके न हो जाएं। इसी फिक्र में वह नई उद्भावनायें प्रस्तुत करते रहे हैं। यह एक प्रकार से धार्मिक परिवारवाद है या फिर यूनियनबाजी या फिर दुकानदारी। आज जैनधर्म में जितने मुख्य कट्टरवादी या सम्प्रदायवादी संघ हैं उन्होंने नये तौर पर किसी को जैन नहीं बनाया, केवल अन्य गुरु या सन्त से जुड़े हुए कुछ घरों को अपने खेमे में अवश्य डाला है और सामाजिक विषमताओं को बढ़ावा दिया है। नई संरचना करने की विधि और रुचि उनके पास नहीं है। मात्र विध्वंसात्मक तोड़-फोड़ में ही उन्हें महारत हासिल है।

साम्प्रदायिक शक्तियों के पास जाकर सामान्य व्यक्ति ही नहीं अति विशिष्ट मेधावी भी इस कद्र प्रभावित होते हैं कि उदार चिंतको को अपनी उदारता पर सन्देह होने लगता है कि क्या हमारी धारणा, शालीनता या मर्यादा मूल्यहीन तो नहीं है।

साम्प्रदायिकों के पास एक बल होता है शास्त्रीय शब्दों का। वे कुछ शास्त्रीय पाठों को बराबर पक्का याद रखते हैं और दुहराते रहते

हैं। शेष हजारों पाठों से उन्हें कुछ सरोकार नहीं होता। उनका तो साफ-2 कहना होता है कि देखो, शास्त्रों में ऐसा लिखा है।

उसका अर्थ गृहस्थों को पता नहीं होता और शास्त्र सामने आने पर तो बड़े-बड़े निहत्थे हो जाते हैं। न उन्हें ध्यान रहता, न गृहस्थवर्ग को कि ये शास्त्रीय वाक्य अपने लिए, अपने दोष निवारण के लिए हैं न कि औरों के दोष प्रसारण के लिए। शास्त्र यदि अपनी ओर न मुड़कर औरों की तरफ मुड़ रहा है तो वह शास्त्र नहीं, शस्त्र है।

शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन बहुत उपयोगी है पर उसका एकमात्र उद्देश्य यदि ये है कि सर्वत्र अहंभाव, घृणा भाव और पारस्परिक विवाद बढ़ जाए तो ऐसे अध्ययन, अध्यापन पर भी पुनर्विचार करना होगा। सुना था कि नए जमाने की पढ़ाई करने वाले कुछ युवक माता-पिता के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाने लगे थे और इसलिए नए जमाने की पढ़ाई की निन्दा की गई थी। अकबर इलाहाबादी ने लिखा है—

हम उन सब किताबों को, काबिले ज़ब्ती समझते हैं।
जिन्हें पढ़-2 के बच्चे, मां-बाप को खब्ती समझते हैं॥

यदि आगमों को पढ़ने के बाद अपने गुरुओं के लिए हम दुश्चिंतन, दुर्भाषण, दुर्व्यवहार करने लगे तो क्या वे आगम पढ़ने चाहिए? यह तो शास्त्रों का अंग्रेजी दवाई जैसा Reaction हो गया और आज स्पष्ट दिख रहा है समाज का वह वातावरण, जहां कुछ उद्दण्ड, प्रचण्ड व्यक्ति शास्त्र-वाक्यों को सन्तों के चेहरों पर शस्त्रास्त्रों की तरह उछाल रहे हैं।

दशवैकालिक सूत्र के दसवें अध्ययन में भिक्षु के लक्षण बताये है— वह छज्जीव निकाय का रक्षक होता है, धन-धान्य का त्यागी होता है, एकांत श्मशानों में ध्यान करता है, तपस्या करता है आदि-2 पर एक गाथा जिसकी प्रायः बहुत अनदेखी हुई— पर परमोपयोगी है—

न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणं च कुप्पेज्ज न तं वइज्जा।
जाणिअ पत्तेयं पुण्ण पावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥

किसी के सम्बन्ध में ये नहीं कहें कि उसका संयम गलत है, किसी को मानसिक नाराजगी हो, ऐसा वाक्य न बोले, प्रत्येक व्यक्ति का अच्छा बुरा कार्य उसका अपना है। मुझे किसी से क्या लेना? स्वयं को किसी भी तरह उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास न करे, ऐसा चिन्तन करने वाला भिक्षु है। न जाने क्यों कट्टरतावादी महानुभावों को ये परिभाषा कभी दिखाई नहीं देती? उनका रस इसमें है कि किसी तरह समाज में कषाय-वृद्धि हो, कषाय-शान्ति से उन्हें क्या?

कट्टरपंथी सम्प्रदाय-प्रेमी वर्ग के पास जैन-समाज में ही नहीं, प्रत्येक समाज में ही एक दूसरी प्रबल शक्ति होती है— उनकी कठोर चर्या। उनका आहार, वस्त्र अत्यन्त अल्प और सादगीपूर्ण होता है। आवश्यकताओं को वह इतना कम कर देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति चकित और हैरान हो जाता है और जब उनके त्याग की महिमा का बखान होता है तो वह अपने जीवन को और कठोरतर करते जाते हैं। इस त्यागमय जीवन का फल यदि आन्तरिक आनन्द की उपलब्धि है फिर तो यह सर्वोत्तम है परन्तु जब यह त्याग प्रदर्शन का विषय बन जाता है तो एक घृणित वस्तु बन जाती है। औरंगज़ेब राजगद्दी पर बैठकर भी इतना सादगीपूर्ण जीवन जीता था कि गरीब से गरीब मुसलमान के समान प्रतीत हो। मेहनती इतना कि अपनी टोपी अपने हाथ से सीता था। समय का इतना पाबन्द था कि पांच वक्त की नमाज़ कभी नहीं छोड़ी। सख्त से सख्त गर्मी में भी रोज़े रखता। उसके 'जीवन आदर्श' को उस युग में हर मस्जिद में, हर गली-चौराहे पर चर्चित किया जाता था। उसके कारण न जाने कितने हजार लोगों को सच्चा मुसलमान बनने की प्रेरणा मिली मगर इतनी सारी सादगी, तपस्या और त्याग भावना के पीछे छिपा था— एक कट्टरवादी साम्प्रदायिक मानस, जिसने हिन्दुओं के मन्दिर ढ़ाये। उनकी तीर्थ यात्राओं पर जज़िया टैक्स लगाया,

स्थान-2 पर जबरदस्ती या प्रलोभन देकर धर्मान्तरण करवाया। सारी जुल्मो-सितम की कहानी इतिहास की पुस्तकों से पढ़ लो। उसके मन में गैर मुसलमानों के प्रति ज़हर भरा था और जैन कट्टरपंथियों में जैनों के ही दूसरे वर्ग के प्रति जहर भरा रहता है। क्या औरंगज़ेबी त्याग को धर्म का उत्कर्ष मान लें?

जैनों की उत्कृष्टता के पैमाने भी लम्बे-चौड़े नहीं हैं। जो एकेन्द्रिय जीवों की अहिंसा टालने का अधिकतम प्रयास करते हैं वे उत्कृष्ट और जो इस विषय में कुछ पिछड़ जाते हैं वे निकृष्टता से लाञ्छित हो जाते हैं। समस्या यह है कि एकेन्द्रिय जीवों की कहां सम्भावना है, कहां नहीं है, क्या वस्तु कब तक जीवित है, कब निर्जीव—इसका प्रमाण शास्त्रों में कहीं मिलता नहीं और हर व्यक्ति अपने-2 ढ़ंग से किसी को सचित्त और किसी को अचित्त सिद्ध करता है और दूसरे को सचित्त-सेवी साबित करने में अपनी ताकत झौंक देता है। स्थानकवासी समाज में तो यह प्रवृत्ति काफी जोरों पर है। अब तो साधुओं से हटकर श्रावकों में यह होड़ लग रही है कि हम कितने अधिक अहिंसक बनें और अहिंसक होने का मापदण्ड वही एकेन्द्रिय जीव। चाहे इस दौड़ में उन्हें प्रकारान्तर से अधिक आरम्भ-समारम्भ करना पड़ रहा हो, ये इनके ध्यान में नहीं आता।

एकेन्द्रिय का चिन्तन इतना हावी होता जा रहा है कि दान, सेवा परोपकार तथा दैनिक जीवन व्यवहार भी अस्त-व्यस्त सा होने लगा है। किसी दया परायण जैन भाई ने अकाल पीड़ित भूखे पशुओं की देख भाल के लिए सवा करोड़ रूपये देने वायदा किया। अगले दिन अपने गुरुदेवों से अपनी बात कही तो गुरुदेव का कथन था— अरे भोले! इतनी घास कटेगी, पानी लगेगा, क्यों कर्मबन्ध करता है? बेचारे परलोक भीरु श्रावक ने अपनी जुबान वापस ले ली क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से प्राप्तव्य नरक टालना था।

श्रावकों को शुद्ध सम्यक्त्व का प्रथम पाठ इस प्रकार पढ़ाया जाता है कि माइक (Mike) में बोलने वाले साधु की कथा में जाने से अनुमोदना का दोष लगेगा। अतः मत जाना, जाना ही पड़ जाए तो सामायिक नहीं करनी। सैल की घड़ी का स्पर्श, बर्तनों का धोवन, गर्म पानी, पैन का प्रयोग, वस्त्र प्रक्षालन करने वाले साधु-साध्वी को पाप लगता है। एक शिविर में शिक्षा पाकर लौटे एक युवक ने सन्त से पूछा– म. श्री जी! कपड़े धोने से पाप लगता है? सन्त ने प्रति प्रश्न किया– कल एक पड़ौसी भाई कह रहा था– कपड़े पहनने में ही पाप होता है। कौन निर्णय करेगा? अल्प वय में, कच्ची बुद्धि के बालकों में यह संस्कार भरकर हम किस धर्म का भला कर रहे हैं? एक वर्ग विशेष मात्र का।

साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने का एक सशक्त उपाय है– खतरे की घंटी बजा देना– "पंथ खतरे में है, इस्लाम खतरे में है।" कहते ही कुछ सरल व्यक्ति लामबंद हो जाते हैं। ऐसे ही जैन-समाज के सामने जब संस्कृति के बचाव का नारा दिया जाता है तब श्रद्धालु समाज को उनके मुताबिक चलने में भलाई नजर आती है। एक को अनुयायी तथा दूसरों को नेता मिल जाते हैं।

साम्प्रदायिकता को बल उन लोगों से भी मिल रहा है जो अंधाधुंध सुविधाओं को अपनाते जा रहे हैं, जिनकी आवश्यकताएं गृहस्थों के समान या कहीं-2 उनसे भी ज्यादा हो गई हैं। जिनके परिग्रह की दास्तां और चरित्र हीनता की वारदातें सुन देखकर श्रावक समाज की श्रद्धायें बिल्कुल हिल गई हैं। वे सुविधा भोगी सन्त-सती साम्प्रदायिक कट्टरता को बढ़ावा देने में और भी ज्यादा जिम्मेदार हैं। उनके कारण टूटा हुआ मानव मानस आखिर कहां जाएगा। कट्टरता के अंधकूप में। श्रावक परेशान है, इधर कूआ उधर खाई। बीच में कोई सुरक्षित स्थान नहीं मिल रहा और यदि कहीं सौभाग्य से है भी तो दोनों अतियों पर जीने वाले ये महानुभाव उस स्थान पर अपने-2 तरीकों से प्रहार कर रहे हैं

क्योंकि दोनों में परस्पर कोई मुकाबला नहीं है। दोनों का मुकाबला है एक मर्यादित, शालीन और शास्त्रीय विधि से जीने वाला वर्ग। वह वर्ग हर तरह से सन्तुलित जीवन जीता है। कट्टरता, साम्प्रदायिकता उसकी विचार-सरणी का अंग नहीं है। शिथिलाचार उसकी चर्या शैली नहीं है। वह स्व-पर कल्याण में पूर्णतः समर्पित है। कषाय वृद्धि स्व में तथा समाज में घटाने के लिए प्रयत्नशील है, संस्कृति और धर्म का सार संभालने में संसक्त है पर अपनी मध्यस्थता के कारण दोनों का कोप भाजन है। दोनों की नजर में यह वर्ग बहुप्रजा का श्रद्धेय होने के कारण अधिक खलनायक प्रतीत होता है जबकि सामाजिक समरसता, आध्यात्मिक विकास, सांस्कृतिक सुरक्षा, ऐहिक[1] आमुष्मिक[2] कल्याण, शास्त्रीय प्रमाण, प्रत्येक दृष्टि से इस वर्ग को पनपने, बढ़ने की अधिक जरूरत है। भविष्य को, आत्मा और समाज को सुरक्षित रखने के लिए नातिउग्र, नातिशिथिल पर सत्यतापूर्ण इस वर्ग को श्रावक समाज का समर्थन, सहयोग मिले, ऐसी गुज़ारिश है।

---

1 इस लोक सम्बन्धित, 2 पर लोक सम्बन्धित

स्थानक और मन्दिर

कुछ जज्बए-सादिक[1] हो कुछ इखलासो-इरादत[2]
इससे हमें क्या बहस वह बुत है कि खुदा है।

न देखा कहीं वह जल्वा जो देखा खान-ए-दिल[3] में,
बहुत मस्जिद में सर मारा, बहुत सा ढूंढा बुत-खाना[4]॥

धर्म एक आध्यात्मिक अनुभूति है, पर उसे बाह्य उपादानों के सहारे अपनी यात्रा करनी पड़ती है। भाव धर्म को द्रव्य धर्म की वैशाखी की जरूरत रही है और रहेगी। भाव धर्म वैयक्तिक साधना है, द्रव्य धर्म सामाजिक अनुष्ठान है। भाव-धर्म निश्चय मार्गी है, द्रव्य धर्म व्यवहार मार्गी। भाव धर्म निरालम्बन, संप्रदायातीत, शब्दातीत एवं अमूर्त होता है जबकि द्रव्य धर्म को आलम्बनों, संप्रदायों, ग्रंथों एवं मूर्त प्रतीकों की आवश्यकता होती है।

जब तक धर्म, भाव के स्तर तक रहता है, तब तक विवाद-विरोध विसंगति के लिए अवकाश नहीं होता, किन्तु जैसे ही वह द्रव्य के स्तर पर आ जाता है वैसे ही उसमें विसंवाद, विरोध आदि का प्रवेश हो जाता है। फिर एक धार्मिक वर्ग को अन्य धार्मिक वर्ग की क्रियाएं, मान्यताएं नितान्त त्रुटि पूर्ण एवं अर्थ हीन लगने लगती हैं और अपनी हर व्यवस्था पूर्णतः शुद्ध और निर्दोष।

ऐसी ही एक उलझन भरी गुत्थी रही है— परमात्मा की उपासना के प्रतीकों को लेकर। धार्मिक व्यक्ति निराकार प्रभु की उपासना करे या उसका आकार बनाकर मूर्ति, प्रतिमा रूप में ढाल कर उसको रिझाए। विश्व के प्राचीनतम धर्मों में बहुल संख्या में निराकार पूजा तथा प्रार्थनाएं होती रही हैं। वेद उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रंथों के निर्माण तक वैदिक

---

1 सच्ची भावना, 2 दृढ़ निश्चय, 3 दिल का मंदिर, 4 मंदिर

परम्परा सर्वथा अमूर्तता पर खड़ी हुई थी, जैन धर्म प्रागैतिहासिक काल से लेकर भगवान् महावीर के युग तक प्रतिमा-विहीन रहा था, बौद्ध धर्म 'महायान' के उद्भव से पूर्व मूर्ति-रहित रहा। यहूदी-पारसी प्रारंभ से अब तक निराकार पूजक बने रहे हैं। ईसाईयत भी मूर्ति रूप से बची रही तथा इस्लाम तो विश्व में अमूर्तता समर्थक ही नहीं, मूर्ति भञ्जक के रूप में कुख्यात है ही, अपने को Iconoclast मानना उसके गर्व का विषय है। मूर्ति का प्रचलन केवल तीन धर्मों में पनपा है, बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म और जैन धर्म।

कैसे प्रवेश हुआ होगा इन धर्मों की उपासना पद्धति में मूर्ति का? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन साहित्य तथा पुरातत्वीय अवशेषों में ढूंढने से मिलेगा। साहित्य से अधिक प्रामाणिकता पुरातत्वीय साक्ष्यों की स्वीकृत होती है। उनके अनुसार भारत में प्राचीनतम मूर्ति चाहे किसी भी धर्म की क्यों न हो, डेढ़ हजार वर्ष पूर्व की है। मोहनजोदड़ो हड़प्पा के उत्खननों से प्राप्त सामग्री में कुछ सील मिली है जिन पर ध्यानस्थ योगी का अंकन है। वह मूर्ति न होकर सील मात्र है। मथुरा के कंकाली टीले से मिलने वाली मूर्ति का काल डेढ़-दो हजार वर्ष के मध्य का आंका गया है। इन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह निर्णीत हुआ है कि जैन धर्म में भगवान् महावीर के युग में प्रतिमा पूजन नहीं था। जैन धर्म में ही क्यों, अन्य किसी भी धर्म में प्रतिमाएं नहीं थी। इसी कारण प्रतिमा हो या न हो ये विषय तीर्थंकर युग में चर्चित नहीं हुआ। प्रतिमा का पूजन किया जाए ऐसा विधान नहीं किया गया। क्योंकि वातावरण में प्रतिमाएं थी ही नहीं। इसके विपरीत जैन परम्परा में भगवान् महावीर या उससे पूर्व प्रतिमा पूजन का निषेध भी नहीं किया गया क्योंकि निषेध्य वस्तु ही नहीं थी। विधि और निषेध, समर्थन और विरोध, स्वीकृति और अस्वीकृति इन दो छोरों से पृथक् तटस्थता, मध्यस्थता एवं उदासीनता का आलम वहां पसरा हुआ था। उस माहौल में नई वस्तु या अनुष्ठान के प्रवेश के लिए भी पूर्ण अवकाश है। और खिलाफत के लिए भी पूरी छूट है। अतः जब जैन धर्म में मूर्ति का प्रवेश हुआ तथा कालान्तर में

उसका निष्कासन किया जाने लगा तब दोनों पक्षों के लिए खंडन मंडन की प्रचुर सामग्री मिल गई। वस्तुतः पूर्ण उदासीनता में या तो दोनों पक्ष समाविष्ट होते हैं अथवा कोई भी पक्ष समाविष्ट नहीं होता।

जैन साहित्य में, विशेषतया श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्य में, प्रतिमा पूजन आदि की क्या स्थिति है, उसकी जांच से कुछ सत्य नितर कर आ सकता है। आगमों के पाठ ही ऐसे आधार हैं जिनको अस्वीकृत करने का किसी को अधिकार नहीं है। अतः उन्हीं का अवलम्बन लें तो विषय निर्विवाद रहेगा। जैन आगमों में चैत्यों का पर्याप्त उल्लेख है। जिनमें यक्षों की पूजा की जाती थी। वे यक्ष नगर देवता (City god) के रूप में मान्यता प्राप्त होते थे। सारा शहर जहां समय-2 पर जाकर अपनी मनौती मांगता था और फिर प्रतिदान के रूप में वहां चढ़ावा चढ़ाने जाता था। औपपातिक सूत्र के प्रारम्भ में पूर्ण भद्र चैत्य का वर्णन करते हुए लिखा है– "*पोराणे चिराईए सच्चे, सच्चोवाए, सण्णिहिय-पाडिहेरे*" वह चैत्य काफी प्राचीन था, लोगों की दृष्टि में उसका अतीत स्मृतियों से भी परे था, वहां की जनता उसे फल देने वाला और चमत्कारी मानती थी। ये विशेषण केवल पूर्णभद्र चैत्य पर ही लागू नहीं होते, आगम वर्णित प्रत्येक चैत्य यक्षायतन पर ये विशेषण चस्पां किए हुए है।

आवश्यक नहीं है कि वहां मत्था टेकने से सबकी इच्छाएं पूर्ण होती थी, यदि सबकी इच्छाएं पूरी होती तो उस युग में कोई भी मानव अभावग्रस्त नहीं होता होगा। मानव मन का स्वभाव श्रद्धाशील होता है, अतः परेशानी होने पर कहीं भी सिर नवाने चला जाता है। और जैसे ही परेशानी दूर हुई फिर कृतज्ञता स्वरूप बोल कबूलने चला जाता है। आज भी स्थान-2 पर ऐसे धर्म स्थलों के प्रति लोक श्रद्धा देखने को मिलती है। दक्षिण में तिरुपति बाला जी, पूर्व में काली का मन्दिर, राजस्थान में खाटूश्याम, सालासर, मेहन्दी पुर बालाजी, अजमेर में दरगाह शरीफ, जालन्धर के सोढल बाबा, वैष्णो देवी,

चिन्तपूर्णी, ज्वाला जी आदि ऐसे हज़ारों लाखों नहीं, करोड़ों की संख्या में और ठिकाने मिल जाएंगे, जहां भावुक हृदय अपनी कामना की पूर्ति करवाने जाते हैं और किया हुआ मानते भी हैं।

मुझे ढूंढने से कोई बन्दा नहीं मिला।
हिन्दोस्तां कितने ख़ुदाओं का देश है ॥

ये युग प्रवाह आज का नहीं है अपितु सहस्राब्दियों पुराना है। यदि इन मान्यताओं को आगमों में चिह्नित स्वीकृत किया है तो इसका अभिप्राय ये नहीं है कि जैन तीर्थंकरों ने देव पूजा, प्रतिमार्चना की आज्ञा प्रदान की है।

जैन तीर्थंकर मूर्तिपूजा को विहित करते थे, ये तथ्य तभी स्वीकृत हो सकता है जब अपने उपदेशों में साध्वी-साधु-श्रावक और श्राविकाओं को ये उपदेश देते कि भव्य मन्दिर बनाओ और बनवाओ, प्रातः सायं उनकी पूजा-प्रक्षाल करो, करवाओ, उनकी वन्दना-अभिनन्दना कभी मत छोड़ो।

आगमों में श्रावक के 12 व्रतों की तथा ग्यारह प्रतिमाओं (प्रतिज्ञा विशेष) की सूक्ष्म से सूक्ष्म दिनचर्या वर्णित है, शौच, स्नान, कुल्ला, दतौन, नाश्ता, जूते, पुष्प दाल-रोटी का बारीकी से उल्लेख है। उनकी मर्यादाएं निर्धारित की हैं। अच्छे वस्त्र पहनकर गुरु-दर्शन, भगवद् दर्शन करने जाने का पूरा विवरण दिया गया है, पर किसी भी आगम में व्रत धारी श्रावक को ये आदेश नहीं दिया कि प्रातः उठकर स्नान आदि से निवृत्त होकर प्रतिमा पूजन के लिए जाए और न ही ऐसा चित्रण है कि कोई श्रावक ऐसा करता था, फिर साधु-साध्वी के सम्बन्ध में तो ऐसा होना कहां सम्भव था।

भगवती सूत्र शतक दो, उद्देशक 5 में तुंगिका नगरी के ज्ञानी ध्यानी श्रद्धावान श्रावकों का विशद वर्णन है, नगरी का भी है। पर किसी भी जैन मन्दिर का या श्रावकों द्वारा की जाने वाली पूजा का

संकेत भी नहीं है। उनका मुनियों के पास जाना और प्रश्नोत्तर करना उल्लिखित है, पूजादि नहीं। वस्तुतः उस युग में मूर्ति का प्रवेश धर्म क्षेत्र में हुआ ही नहीं था, न जैन परम्परा में और न ही वैदिकों में।

तामली तापस तथा शिवराजर्षि संन्यास से पूर्व या पश्चात् किसी भी भगवान् की मूर्ति की आराधना करते हुए नहीं दिखाए। भगवान् महावीर के शासन वर्ती जैन मुनियों और जैन श्रावकों के साथ चर्चा करने वाले अन्य तीर्थिक तथा पार्श्वापत्य साधकों के वार्तालाप और दीर्घ प्रश्नोत्तर होते हैं, उनमें नाना प्रकार के विषय सुलझाए जाते हैं, पर मूर्ति के सम्बंध में कोई अप्रत्यक्ष इशारा भी नहीं मिलता। 18वें शतक के 10वें उद्देशक में सोमिल ब्राह्मण यात्रा (तीर्थ यात्रा) जपनीय (माला-जाप) विहार (मठ) आदि को लेकर अच्छा खासा विवाद उठाता है, पर मूर्ति प्रतिमा को उसने भी नहीं छुआ क्योंकि मूर्ति न उसके धर्म में थी, और न प्रभु महावीर के संघ में। उपासक दशागंवर्ती दसों श्रावकों के घर के निकट पौषधशालाएं हैं, भगवती के शंख पोखली आदि श्रावकों के उपासना स्थल भी दो ही दिखाए हैं या तो तीर्थंकरों का समवशरण या फिर पौषधशाला। मन्दिर होते तो उनकी उपेक्षा या अवर्णना संभव नहीं होती।

मूदुक और ऋषिभद्र आदि श्रावक तात्विक चर्चाओं में अग्रणी हैं, पर वे भी प्रतिमा पूजन करते हुए नहीं दिखते। जयन्ती श्राविका को जिन शासन में गौरवास्पद स्थान प्राप्त हुआ है, उसका सजीव चित्रण भगवती के 12 वे शतक में है। पर श्राविका भी प्रतिमा दर्शन की रीति का निर्वाह नहीं करती। उससे आगे 13वें शतक में सिन्धु सौवीर के नृप उदायन की उत्कृष्ट भावनाओं का अनूठा उल्लेख है। पर आश्चर्य की बात ये है कि पश्चाद्वर्ती चरित्र लेखकों ने वहां जिस जीवन्त स्वामी (भगवान महावीर के युग में निर्मित राजा उदयन के मन्दिर में स्थापित) भगवान् महावीर की प्रतिमा की चामत्कारिक स्थापना करवाई है, उसका या तत्सदृश (उसके समान) किसी प्रतिमा का मूल आगम में सर्वथा अभाव है। जैन धर्म या

अन्य धर्मों में धर्माराधना के आलम्बन के रूप में प्रतिमाओं को आश्रय इतना प्राचीन नहीं था जितना कि अधुनातन श्रद्धालु मानते और मनाते हैं।

अपने लौकिक कार्य की सिद्धि के लिए तत्कालीन प्रजा कुछ देवों या यक्षों का ध्यान जाप, तपस्या या प्रतिमा पूजन अवश्य करती थी। पर वे कार्य धर्मानुष्ठान के अंग नहीं थे। उनसे सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूप मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं मानी जाती थी। या तो वे तद्युगीन संस्कृति के अंग थे या लोकैषणा के अंश। श्री कृष्ण जी (अंतगड़ सूत्र) अपनी मां की भावना पूरी करने के लिये, हरिनैगमेषी के निमित्त, श्री अभय मंत्री (ज्ञाता धर्मकथांग) अपनी सौतेली मां की इच्छा पूर्ति के लिये अपने पूर्व परिचित देव के निमित्त पौषधशाला में तेला करते हैं और दोनों ही स्थानों पर देवताओं को उपस्थित किया गया है।

भरत चक्रवर्ती दिग्विजय यात्रा के दौरान कदम-2 पर तेला तप करके देवता से सम्पर्क बनाते हैं (जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति)।

इन तीनों प्रसंगों पर इन देवों की प्रतिमा पूजने का जिक्र नहीं है पर ज्ञाताधर्म कथांग में भद्रा सेठानी उस युग के प्रमुख-2 देवों की प्रतिमाओं की पूजा करती दिखाई है और उनकी कृपा से पुत्र प्राप्ति मानती है, ऐसा उल्लेख है। वहां जिन प्रतिमा की पूजा नहीं है। दुःख विपाक के सातवें अध्ययन में सागरदत्त और गंगदत्ता, उदम्बर देव की आराधना करते हैं और ये मानते हैं कि उस देव की कृपा स्वरूप उनका पुत्र जीवित रहा, जिसको उदम्बर दत्त नाम मिला, जबकि पूर्व संतानें मृत पैदा होती थी।

अन्तगड़ में भी दो स्थानों पर प्रतिमाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। सुलसा (भद्दिल पुर के नाग गाथापति की पत्नी) ने बचपन में हरिनैगमेषी की प्रतिमा स्वयं बनाई और पूजा की, अर्जुनमाली अपने बाग के निकटवर्ती मन्दिर में मुद्गरपाणि की प्रतिमा की पुष्पों से प्रतिदिन पूजा करता था। दोनों स्थानों पर पूजकों को देवता ने वक्त

पर मदद दी, दिखाई है। सुलसा के मृत पुत्र, देवकी के पास, देवकी के जीवित पुत्र, सुलसा के पास पहुंचाने का कार्य हरिनैगमेषी ने किया तथा अर्जुनमाली ने जब मन ही मन उस मन्दिर के देव को निरा काष्ठ कहकर कोसा तो वह देवता अर्जुनमाली के शरीर में प्रविष्ट हो गया, और सुदर्शन श्रावक से मिलन से पूर्व तक तबाही मचाता रहा। जैन धर्म या अन्य कोई भी धर्म ऐसी लौकिक घटनाओं को धर्म की घटना नहीं मानते। बल्कि धर्म का वास्तविक रूप तो उस सुदर्शन में दिखाते हैं, जो निर्भय होकर भगवान् महावीर के दर्शन करने चल दिया। यदि उस युग में मन्दिर और प्रतिमा दर्शन की प्रथा होती तो उसे गुणशील उद्यान में जाने की जरूरत नहीं पड़ती। घर पर या आस पास के मन्दिर में जाकर प्रभु दर्शन कर लेता, जैसे कि आजकल बहुत स्थानों पर हो रहा है।

जैन धर्म में 'अर्हन्नक श्रावक' (ज्ञाता धर्म कथांग का 8वां अध्ययन) को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसकी प्रिय धर्मता तथा दृढ़ धर्मता का उदाहरण दिया जाता है। जब वह व्यापारार्थ समुद्री यात्रा के लिए प्रस्थित होता है। तब उस युग के हर रीति रिवाज को निभाता है। शकुन देखता है, पुष्प विकीर्ण करता है, धूप खेने की विधि पूर्ण करता है, समुद्री हवाओं तक की भी पूजा करता है, पर जिन प्रतिमाओं की पूजा नहीं करता, क्योंकि उस समय तक (आगम रचना तक) जिन प्रतिमाएं धार्मिकता का अंग नहीं बनी थी।

ज्ञाता धर्म कथांग के नौवें अध्ययन में जिनपाल जिनरक्षित दोनों भाई रत्नद्वीप में अपने जीवन की रक्षा के लिए अश्व रूपधारी शैलक यक्ष की पुष्पों से पूजा करते थे और वह प्रकट भी होता दिखाया है, पर यह पूजा उपासना किसी आध्यात्मिक साधना का सूचक नहीं है। आगमों में ही नहीं, बाद के चारित्राख्यानों में भगवान् महावीर, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी आदि के विवरणों का जहां-2 वर्णन मिलता है सर्वत्र लोकमान्य चैत्यों, यक्षायतनों के आस पास ठहरने का जिक्र है, कहीं भी जैन मन्दिरों, पूजा स्थलों और उपासना स्थलों का उल्लेख नहीं

है। उपदेश श्रवण, मंगल दर्शन, श्रद्धार्पण, प्रत्याख्यान ग्रहण, व्रतारोहण, जिज्ञासा तर्पण आदि जो भी धर्मध्यान करना होता, साधु या श्रावक सभी साक्षात् तीर्थंकरों या मुनियों के पास जाकर करते थे, यदि उनका सान्निध्य नहीं मिलता तो पर्वतों, वनों या पौषधशालाओं में धर्माराधना करते थे। यथा पाण्डवों ने दीक्षा लेकर अरिष्टनेमी प्रभु के दर्शन का अभिग्रह किया, भगवान् के निर्वाण होने से अभिग्रह पूरा नहीं हुआ तो वे उज्जयंत पर्वत पर संथारे के लिये ही चले गए, किसी प्रतिमा के दर्शन करके, प्रभु दर्शन का भाव पूरा नहीं किया। अरिष्टनेमी के निर्वाण होने पर उनकी स्मृति में कोई मन्दिर नहीं बना, बना होता तो ज्ञाताधर्म कथांग में (16 वें अध्ययन) वर्णन अवश्य आता।

नन्दन मणियार ने व्रत ग्रहण किये पर साधु साध्वियों के संपर्क न होने से धर्म के स्वरूप का विशुद्ध ज्ञान और श्रद्धा नहीं रही, यदि उस युग में मंदिर आदि होते और वहां जाना सम्यक्त्व का अंग होता तो उसे मिथ्यात्व का उदय शायद न होता, क्योंकि मन्दिर का संपर्क बनने में कठिनाई कुछ नहीं थी। मेघकुमार के दीक्षा वाले जलूस में अष्टमंगल है, पर जिन प्रतिमा नहीं है।

अपने लघु भ्राता गज सुकुमाल के निर्वाण के बाद श्री कृष्ण जी ने उनकी स्मृति को चिरस्थायी या अमर बनाने के लिये मन्दिर निर्माण या मूर्ति स्थापना नहीं करवाई। कल्पसूत्र को भगवान् महावीर के जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज माना जाता है। वहां निर्वाण रात्रि पर 9 मल्लवी 9 लिच्छवि इन 18 गण राजाओं की उपस्थिति दर्ज है। तथा उन्होंने जो फैसले उस समय लिये उनका भी उल्लेख है जैसे कि भावोद्योत तो चला गया अब द्रव्योद्योत किया करेंगे। और दीपावली पर्व की शुरुआत हो गई। पर किसी ने ये घोषणा नहीं की, कि इस जगह पर एक दिव्य, भव्य मन्दिर की स्थापना करेंगे। और उसके अन्दर भगवान् के पार्थिव अवशेषों की सुरक्षा भी की जाएगी। हाँ, ये तथ्य बार-2 उभरता है कि जैन आगमों का जो रूप आज उपलब्ध है उसकी रचना के काल

तक भारत भूमि में धार्मिक लोगों के मध्य जैन तीर्थंकरों, गुरुओं की प्रतिकृतियां, प्रतिबिम्ब, प्रतिमा आदि नहीं थे, लेकिन उनके अस्तित्व के प्रति एक आकर्षण बन अवश्य गया था। ये आकर्षण भी समीपवर्ती समाजों के प्रभाव से पनपा था।

इस आकर्षण का सीधा प्रभाव तो उपांग सूत्रों पर ही परिलक्षित होता है, पर कहीं-2 अंग सूत्र भी उसकी छुवन में आ गये हैं। औपपातिक सूत्र में चैत्य का विस्तृत वर्णन किया गया, राज प्रश्नीय में सूर्याभदेव से जिन-सक्थियों, अस्थियों और जिन-प्रतिमा की पूजा दिखाई है, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भिन्न-भिन्न पर्वतों, वनों में सिद्धायतन कूटों, तथा शाश्वत जिन प्रतिमाओं का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

ये ठीक है कि अगंसूत्र-भगवती (20 शतक 9 उद्देश्क) में चारण मुनियों द्वारा मानुषोत्तर तथा नंदीश्वर द्वीप पाण्डुक वनादि में प्रतिमा-वन्दन लिखा है तथा ज्ञाता धर्म (16 अध्ययन) में द्रौपदी विवाह से पूर्व जिन प्रतिमा की पूजा करती है। परन्तु ये दोनों पाठ उपांगों के पाठों से कथञ्चित् प्रभावित हो गए लगते हैं। उपांगो की रचना भगवान् महावीर के निर्वाण के काफी बाद तक चलती रही थी, तब तक भारत के मानचित्र पर प्रतिमाओं का अवतरण हो चुका था, उसी अवतरण को जैन आगमकारों ने सहमे-2 ढंग से बचाव मुद्रा में अपनाना शुरू कर दिया। उन्होंने सीधे तौर पर श्रावक समाज को प्रतिमा स्थापना, मंदिर निर्माण की न तो प्रेरणा दी, न अपने आसपास के वातावरण में उनके अस्तित्व का प्रतिपादन किया, पर कहीं बहुत दूर, बहुत-दूर, क्षेत्र और काल की अपेक्षा पहुंच से बाहर— प्रतिमाओं के होने का मण्डन कर दिया, ताकि धीरे-2 जनमानस में हल्की सी रुचि बने, तथा दूरवर्ती को निकट बुलाने की तैयारी की जा सके। जब उपांगों में प्रतिमाएं स्थापित हो गई तो देवर्धिगणी के युग में आगम लेखन के दौरान कुछ पाठ छिटककर अंगसूत्रों में भी प्रविष्ट हो गए।

पंडित बेचर दास जी ने औपपातिक सूत्र के चैत्य शब्द को केवल प्रतिमायुक्त मंदिर रूप में स्वीकार नहीं किया, अपितु भाषा वैज्ञानिक, पुरातात्विक, कोष, व्याकरण आदि के ठोस प्रमाणों के आधार पर उसके सात अर्थ प्रमाणित किए हैं।

चैत्य का मूल शब्द 'चिता' मानते हुए उन्होंने लिखा है कि चैत्य का प्रथम अर्थ था चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह, दूसरा अर्थ बना चिता के ऊपर स्थापित किया पाषाण खंड या शिला-लेख। तीसरा अर्थ उभरा—चिता के ऊपर बोया हुआ कोई भी वृक्ष, चाहे वट हो या पीपल अथवा तुलसी। चौथा अर्थ पनपा—चिता पर बने स्मारक के निकट बनाया गया यज्ञ स्थान या होमकुण्ड, पांचवा अर्थ निःसृत हुआ— स्तूप-देव कुलिका (देहरी) जो चिता के ऊपर बनने लगी, छठा अर्थ विकसित हुआ— चरण पादुकायें जो चिता स्थल पर बनाई गई। और अन्तिम अर्थ मान्य किया गया है— चिता पर बनाए गये देवालय या विशाल मूर्ति तथा उन्होंने यह भी मान्य किया है अन्तिम रूप में आने में 600-700 वर्ष अवश्य लगे होंगे। और यही वह समय था जब जैन धर्म के द्वार पर प्रतिमाओं ने दस्तक दी थी।

आगमों का सर्वाधिक चर्चित पाठ राज प्रश्नीय का रहा है जिसमें दिखाया है कि प्रथम देवलोक में सुधर्मा सभा में माणवक चैत्य स्तंभ के गोल डिब्बों में तीर्थंकरों की सक्थियां (अस्थियां) है जो कि देव देवियों के लिये अर्चनीय पूजनीय होती हैं तथा सुधर्मा सभा के उत्तर पूर्व में सिद्धायतन है जिनमें 108 जिन प्रतिमायें हैं, उनके ऐश्वर्य को और अधिक बढ़ाने वाली छत्र चंवर धारिणी भी वहां उपस्थित रहती हैं। वहां जिन प्रतिमाओं के अलावा नाग, भूत, यक्ष और कुण्डधार की प्रतिमाएं भी हैं।[1] वहां एक पुस्तक रत्न भी है। जैसे ही सूर्याभ देव का उपपात

---

1 (वैमानिक देवों के समक्ष इन व्यन्तर देवों की क्या औकात है तथा इनकी प्रतिमाओं के लिए इनका क्या महत्व हो सकता है, ये तो यक्ष प्रश्न ही रहेगा)

होता है, तत्काल ही पूर्ववर्ती सामानिक देवता उसे वहां का जीताचार बता देते हैं (जीताचार=Protocol) प्रथम सूर्याभ का अभिषेक होता है, जिसमें मनुष्य लोक के तीर्थों और जल का प्रयोग होता है। सूर्याभ पुस्तक का वाचन करता है फिर जिन प्रतिमा का प्रक्षालन, प्रमार्जन आदि करके "नमोत्थुणं" के पाठ से वन्दना करता है। केवल जिन प्रतिमाओं की पूजा से ही सारी समाचारी पूर्ण नहीं हो जाती, वह तोरणों, स्तंभों, दहलीज आदि की भी सविधि पूजा करता है।

जिन प्रतिमाओं तथा सिद्धायतनों को विशेष स्थान देने वाला दूसरा उपांग सूत्र है– जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति। उस आगम के रचयिता ने 108 जिन प्रतिमाएं तो वैताढ़य पर्वत पर स्थापित की हैं। चुल्लहिमवंत महा हिमवंत, निषध गंध मादन पर्वतों पर भी की। यमक पर्वतों पर जिन सक्थियां और जिन गृह में प्रतिमाएं दोनों मान्य की हैं। जंबू पीठ, चित्रकूट, नलिन कूट, एक शैल, शिखरी, नीलवान, रुक्मी आदि कोई भी वक्षस्कार पर्वत नहीं छोड़ा जहां सिद्धायतनों की स्थापना नहीं की गई। मेरु पर्वत के भद्रशाल वन, पाण्डक वन, सौमनस वन सर्वत्र इन प्रतिमाओं की धूम है।

पर इतना शुक्र रहा कि ये सारे सिद्धायतन कूट, जिनगृह तथा प्रतिमाएं अत्रत्य जनता की नज़रों से परे दूर दराज के पर्वतों वनों में ही वर्णित किये या फिर स्वर्गों में। उपांग आगमों की रचना तक नगरों में मन्दिर निर्मित नहीं हुए थे। पर प्रतिमाओं के प्रति कुछ श्रद्धाभाव अवश्य उत्पन्न कराया जा रहा था। जिन प्रतिमाओं का चाक्षुष दर्शन कराने से पूर्व मानस-दर्शन करवा देने से एक उत्सुकता एवं जिज्ञासा का जन्म तो होने लग ही गया था।

उपांग के इस दूरवर्ती प्रतिमा चित्रण से यह झलक अवश्य मिलती है कि जैन धर्म के फलक पर प्रतिमावतरण के लिए अनुकूल वातावरण बन गया था। इस नूतन परिवर्तन के लिये मुख्य भूमिका निभाई थी बौद्ध धर्म के उत्तराभिमुखी अभियान ने।

सम्राट अशोक के शासकीय संरक्षण के बाद बौद्ध धर्म ने विस्तार का दीर्घकालीन सुदूर क्षेत्रीय मार्ग चुना। बौद्ध भिक्षु श्रीलंका पहुंचे। सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा उस अभियान में सहयात्री बने थे।

कुछ बौद्ध तिब्बत के रास्ते चीन तक गए। कुछ बौद्ध भिक्षुओं ने अफगानिस्तान ईरान का रास्ता पकड़ा और मध्य एशिया को अपना कार्य क्षेत्र चुना। जो भिक्षु इस मार्ग से गए, उन्होंने अफगानिस्तानी शिल्पकारों की कला-प्रतिभा का साक्षात्कार किया। पत्थरों को तराश कर उनमें मूर्ति उकेरना, वहां के कलाकारों का शौक भी था और पेशा भी। नए इलाके में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए सरलतम साधन रूप में उन्होंने बुद्ध की प्रतिमाएं बनवाई। चूंकि उस युग में बुद्ध को साक्षात् देखने वाला कोई व्यक्ति जीवित नहीं था, अतः किसी भी भव्य आकृति को मन में बसा कर ध्यान और आशीर्वाद मुद्रा में ढालकर मूर्ति बनवा ली और उसी मॉडल को वास्तविक बुद्ध मान लिया गया। मूर्ति के संबन्ध में हर बात को मानना ही तो पड़ता है। इस मूर्ति के प्रचलन से संन्यासियों को बहुत बड़ा सहारा मिला और जन सामान्य तक पहुंचने में भारी मदद मिली। देखते ही देखते बुद्ध की मूर्तियों की संख्या इतनी अधिक हो गई कि बुद्ध के अलावा और मूर्तियों का विलोप सा हो गया, जिधर देखो जहां देखो बुद्ध ही बुद्ध नजर आने लगे।

जहां देखता हूं जिधर देखता हूँ।
तेरा हुस्न पेशे[1] नजर देखता हूँ ॥

सौ में से 90 मूर्तियां तो बुद्ध की दिखाई देने लगी, अतः लोक भाषा में प्रत्येक मूर्ति बुद्ध कहलाने लगी और बुद्ध ही 'बुत' बनकर पारसी भाषा के कोषों में समाविष्ट हो गया। बुत शब्द को Idol का वाचक बनाने में बुद्ध की कृपा रही। इस बुत परस्ती ने भी बौद्ध धर्म

---

1 आँखों के सामने का सौंदर्य

को विभाजित करने में अपना योगदान दिया था। हीनयान ने मूर्ति को अस्वीकृत कर अपने मूल प्राचीन रूप को सुरक्षित रखना चाहा, जबकि महायान को अपने विकास की इस महत्वपूर्ण कड़ी को छोड़ना आत्मघाती कदम लगा। महायान की विस्तार गाथाओं ने वैदिक और जैन चिन्तकों को भी झिंझोड़ दिया। नई चीज़ को अपनाने का लोभ तो था पर साहस भी तो चाहिए। जैन आचार्यों ने सर्वप्रथम जिन प्रतिमाओं को अपने मध्य स्थापित न करके कल्पना लोक के मध्य स्थापित किया और जन धारणाओं का संकोच तोड़ा। स्वर्गों की प्रतिमाओं की अर्चना हो या सिद्धायतन कूटों या नंदीश्वर द्वीप व पाण्डक वनों की, वह पूजा एक औपचारिक सी दिखाई गई, उनमें कहीं भी आध्यात्मिकता का पुट नहीं डाला। किसी का जन्म हो या विवाह का प्रसंग हो (जैसे कि द्रौपदी का) देह त्याग की घटना हो (जैसे तीर्थंकरों का निर्वाण) उन मौकों पर जैसे वैदिक लोग यज्ञ हवनादि करके अपने लोकाचार का निर्वाह करते है, वही लोकाचार निर्वाह इस प्रारम्भिक काल में प्रदर्शित किया है। मर्त्य लोक में श्रावकों तथा साधुओं के बीच धर्मानुष्ठान के रूप में ये अर्चन पूजन वन्दन तब तक नहीं आए थे, जैसा कि इन्हीं आगमों के संयुक्त पाठों से प्रतीत हो रहा है।

सूर्याभ देवता अपनी श्रद्धार्पण करने, प्रवचन सुनने की भावना से ओत प्रोत होता है तो वह पृथ्वी तल पर 'आमल कल्पा' नगरी में प्रभु महावीर के समवशरण में ही आता है न कि प्रतिमायतनों में। वहां की पूजा तो जीवन में एक बार करनी थी, सो कर ली। आगे तो साक्षात् गुरु और भगवान् के ही दर्शन काम आयेंगे।

सूर्याभ देव ने अपने बोधि दाता गुरुदेव श्री केशी कुमार श्रमण का मंदिर बनाने, प्रतिमा पूजने की योजना नहीं बनाई। तथा पूर्व भव में भी जब केशी कुमार का विहार हो गया तब उस राजा प्रदेशी ने व्रत प्रत्याख्यान पूर्णतः पाले, पर किसी तीर्थंकर की या अपने गुरुदेव की प्रतिमा घड़वा कर पूजा नहीं की।

उस प्रारम्भिक काल की स्पष्ट सूचना ये है कि आगमकारों ने उस सूर्याभ से अपने गुरुदेव श्री केशी कुमार की प्रतिमा पृथ्वी पर नहीं बनवाई। ज्ञाता धर्म कथांग के द्वितीय श्रुत स्कंध में काली आदि सभी देवियों ने पृथ्वी पर आकर प्रभु को वन्दना की है, न कि तत्रस्थ शाश्वत प्रतिमाओं की। हर घटना का शैशव काल होता है। भगवान् महावीर के 500-600 वर्ष पश्चात् जैन धर्म मूर्ति पूजा के शैशव काल से गुजर रहा था।

उस समय चित्र अथवा मूर्ति, पूजा की बजाय परिचय के लिए अंगीकृत की गई। जैनों को भगवान् महावीर का चेहरा ढूंढने में अधिक कठिनाई नहीं हुई क्योंकि महात्मा बुद्ध के स्वीकृत चेहरे को गरिमापूर्ण और सौम्यतामय समझ कर उसी के कुछ समान जैन तीर्थंकरों की भी शक्ल मान्य कर ली, अन्तर इतना बनाया कि तीर्थंकर की मुखाकृति को ध्यानावस्था में ढाला और तराशा गया। आशीर्वाद मुद्रा में नहीं।

पाषाण प्रतिमाओं के प्रचलन से पूर्व वस्त्रों पर आकृति अंकन हुए। फिर लकड़ी की प्रतिकृतियां बनी, मिट्टी की तस्वीरों के बारे में भी ऐतिहासिक (Historical) प्रमाण मिले हैं। मुनिजन जिन्हें साथ-2 उठाकर चल सके ऐसी छोटी-2 मूर्तियों का प्रचलन भी हुआ। उन मूर्तियों का सुखद परिणाम ये निकला कि सामान्य से सामान्य नर-नारियों के लिये जैन धर्म सहज ग्राह्य होने लगा। भगवान् महावीर के निर्वाण के एक हज़ार वर्ष पश्चात् उपलब्ध आगम लिपि-बद्ध हो गए, उसके पश्चात् तो जैन मुनियों की अधिकतर ऊर्जा मूर्तियों की ओर लग गई। ज्ञान और क्रिया की नीरस और कठिन आराधना के स्थान पर भक्ति की सरल-सरस आराधना ने अपना स्थायी और गहरा प्रभाव बना लिया। तीर्थंकरों के भव्य, दिव्य, चामत्कारिक स्तोत्रों की रचनाएं होने लगी। केवल त्याग, तपस्या, आध्यात्मिकता के स्थान पर लौकिक कामनाओं की पूर्ति भी जैनत्व का अंग बनने

लगी। कामना पूर्ति पर चढ़ावों का भाव भी बढ़ा। गरीब जनता ने जहां चावल-पत्र-पुष्प के उपहार दिए, सेठ साहूकारों ने हीरे, मोती, रत्न अर्पित किए। राजा महाराजाओं की ओर से जमीन-जागीरों की बक्शीशे भी मिलने लगी। और उन सब की देख रेख का दायित्व भी अकिंचन मुनियों के हाथों में आने लगा।

नित्य नई मांगे तथा तदनुसार नव-नूतन, विधि-विधान मंदिरों में किए जाने लगे। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं ने मूर्तियों के बल बूते पर विकास और विस्तार के नये इतिहास निर्मित किये। एक दो भव्य आयोजन ही लाखों लोगों के लिए आकर्षण का कारण बन जाते थे।

इस विस्तार में भी एक उल्लेखनीय बात ये है कि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर दोनों की मुनि परम्पराओं में झीना सा अंतर बना रहा। भगवान् महावीर के मुनियों ने मूर्तियों को भक्ति या ज्ञान प्रदान का आधार अधिक रखा, जबकि प्रभु पार्श्वनाथ के मुनियों ने लोकेच्छाओं की पूर्णता के लिए मूर्तियों का आश्रय लिया। लोकेच्छा पूर्ति पर अधिक द्रव्य की प्राप्ति होने से तथा लोगों की गतानुगतिकता के कारण भगवान् महावीर की बजाय भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियां और उनसे अधिष्ठित मन्दिर बहुत अधिक बने। मूर्ति मन्दिरों की बहुलता हुई तो उनके नाम पर बनने वाले स्तोत्र और मन्त्र भी न्यून कैसे रह सकते थे? शासन महावीर का, मूर्तियां पार्श्वनाथ की। मूर्ति पूजा के कारण खर्चे बढ़े तो दान भी खूब बढ़ा। आडम्बर बढ़े तो प्रभावना भी प्रचुर हुई। जैनों के बाहरी प्रभाव का उत्कर्ष निःसन्देह उस युग में हुआ है। दक्षिण भारत में दिगम्बर जैनों का, पश्चिमोत्तर भाग में श्वेताम्बर जैनों का आधिपत्य इतिहासकारों ने भी स्वीकारा है। कितने ही शासक वंश जैनत्व के अनुगामी बने। शासकों की ओर से विराट् मन्दिरों का निर्माण करवाया गया। ऐसे-2 मन्दिरों की शृंखला तैयार हुई जो अपनी कला शिल्प, सौन्दर्य, सूक्ष्म कारीगरी, नक्काशी के बल पर विश्व के सुंदरतम

स्मारकों को लज्जित कर सकते हैं। दिगम्बरों के मन्दिरों में स्थापित प्रतिमाएं सादगी पूर्ण रही पर श्वेताम्बरों की प्रतिमाओं पर अंधाधुंध खर्चे बढ़ गए।

भगवान महावीर और पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं के साथ-2 चौबीसों तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की मांग बढ़ी। प्रतिमाएं तो बन गईं, पर समानाकृति की होने से उनके पार्थक्य की समस्या खड़ी हो गई, प्रतिमा बनाने या बनवाने वालों ने न भगवान् महावीर स्वामी को देखा था, न ऋषभ, अजितनाथ को। अतः मूर्ति तो एक समान बननी थी, भिन्नता प्रकट करने के लिये कुछ चिन्ह मूर्तियों पर अंकित कर दिए गए। ऋषभदेव जी को ऋषभ (बैल) का, पद्म प्रभ जी को पद्म (कमल) का, चन्द्रप्रभु जी को चन्द्रमा का, पार्श्वनाथ को प्रचलित कथानक के आधार पर सर्प का, भगवान् महावीर स्वामी को वीरता के द्योतक सिंह का चिन्ह एलाट होना स्वाभाविक था। शेष पर सामुद्रिक शास्त्रों के कुछ-2 चिन्ह अंकित कर दिए गए। और मूर्तियों के आकार की समानता को भिन्नता प्रदान कर दी। Necessity is the mother of Invention आवश्यकता आविष्कारों को जन्म दे ही देती है। जैनाचार्यों ने साहित्य रचना में भी नये कीर्तिमान स्थापित किये, हाँ, कथा साहित्य में उन्होंने मन्दिर और मूर्तियों को इतना महामंडित किया कि स्थान-2 पर मंदिरों का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया। प्रतिमा पूजन अनादिकालीन व्यवस्था घोषित कर दी, इतिहास और पुराण के प्रत्येक मोड़ को मूर्ति मंडित कर दिया। एक मंदिर निर्माण करवाने वाले को तीर्थंकर पदवी का तोहफा बक्शा। मन्दिरों की महिमा के साथ-2 तीर्थों की महिमा भी उसी अनुपात में वृद्धिगंत होने लगी। तीर्थ दर्शन के लिये संघ यात्राओं के आयोजन होने लगे। गिरनार शिखर को इच्छा पूर्ति का तथा मुक्तिदान का दर्जा हासिल हुआ। नाम स्थापना, द्रव्य, भाव इन 4 निक्षेपों में स्थापना के निक्षेप को सिंहासनारूढ़ किया गया। जैन साधु साध्वियों में चैत्यवास के युग में प्रभावना और पाण्डित्य तो तीव्रता से बढ़ा पर संयम और ध्यान का काफी ह्रास हुआ।

हर वस्तु के लाभ हानि होते हैं। मूर्ति प्रवेश ने जैनों को पहचान तो दी, पर निर्ग्रन्थता छीन ली। इस हानि का एहसास कुछेक प्रबुद्ध मनीषियों को होता था और वे अपने ह्रासोन्मुखी समाज को ललकारते भी थे पर परिवर्तन की लहर नहीं बना पाते थे। प्रतिमाओं ने जब अपने आगमन की एक सहस्राब्दी पूरी कर ली, दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों पर जब पूर्ण आधिपत्य जमा लिया तब इसके विपरीत कुछ वातावरण भी बनने लगा। भारत में इस्लाम के आगमन के पश्चात् न केवल शासन व्यवस्था ही बदली अपितु भाषायी, सांस्कृतिक और धार्मिक स्वरूप भी तब्दील हुए। चूंकि इस्लाम कट्टर निराकारवादी मजहब रहा था अतः उसने भारतीय साकार पूजा को तो अपनाया नहीं, अपितु भारतीय विचार धाराओं को प्रभावित करना शुरु कर दिया।

भारतीय जन मानस ग्रहणशील वृत्ति का होने से इस्लाम के धार्मिक पहलुओं के प्रति भी उदार हो गया।

मुस्लिम आक्रान्ताओं और शासकों ने तलवार के बल पर भी मूर्ति पूजा पर भीषण प्रहार किये, मन्दिर बनाना, प्रतिमाओं को पूजना एक खौफनाक घटना बना दी। इस डर से भी सामान्य भारतीय मूर्ति और मन्दिरों से कतराने लगा। प्रतिमाएं तोड़ी जाने लगी तो उनको तहखानों में, कुओं में डालकर बचाया गया।

दक्षिण और उत्तरपूर्व और समग्रभारत में भक्ति युग का नव सूत्रपात हुआ। जिसमें कई भक्त शिरोमणियों ने निर्गुण, निराकार पूजा की ओर फिर से जनता का मुंह मोड़ना शुरु कर दिया।

कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि इस निराकार धारा के प्रमुख प्रवक्ता बन कर उभरे। सिक्ख धर्म प्रारम्भ में निराकारता की बुनियाद पर ही खड़ा हुआ। भारत की प्राचीन विरासत को पुनः जागृत करते हुए इस धर्म ने प्रतिमाओं को तिलांजली दी। इन विचार धाराओं का प्रवेश जैन जगत में भी होने लगा। दिगम्बर सम्प्रदाय की बजाय श्वेताम्बर संप्रदाय में इसके झटके जल्दी और ज्यादा महसूस हुए।

चूंकि गुजरात जैन बहुल प्रांत रहा है, वहीं मंदिर मूर्तियों का गहन प्रसार था और वहीं से इसके प्रति खिलाफत की आवाज उठी। हेमाशाह, गंगादेवी के घर विक्रमी संवत 1472 (सन् 1415) में जन्में लोकाशाह को परिवार में तो प्रतिमा पूजन के संस्कार मिले थे। पर राष्ट्रीय, सामाजिक धरातल पर चर्चित वार्तालापों से उन्हें नई विचारसरणी भी मिली थी, अध्ययन शील थे, अतः जैनागमों का अध्ययन भी करते थे, उस अध्ययन से उनकी ये भावधारा बनी कि प्रतिमा पूजन जैनत्व का मौलिक और अभिन्न अंग नहीं है। तथा प्रतिमा पूजन के बहाने साधु वर्ग में संयम विषयक शिथिलताएं भी प्रविष्ट हुई हैं। उन्हें साधुत्व का घोर पतन असह्य लगा। उनकी आत्मा महाव्रतों की विशुद्ध परम्परा के पुनरुद्धार के लिए कराह उठी। अहिंसा के धुरीण मुनि जब प्रतिमा पूजन से जुड़ी हिंसा का समर्थन करते तो उन्हें विचित्र विरोधाभास प्रतीत होता। अपरिग्रही मुनि मंदिरों की संपत्ति के मालिक बन बैठे तो उन्हें नागवार गुज़रा। शिथिलाचार का पृष्ठ पोषण प्रतिमाओं के द्वारा होता देख उन्होंने प्रतिमा को भी सिरे से नकार दिया।

उन्होंने अपने विचार तर्क-संगत ढंग से जैन जनता के समक्ष प्रस्तुत किये। हज़ारों सालों से प्रचलित पूजा पद्धति को नकारना एक चुनौती भरा कार्य था। उन्हें बागी, धर्म द्रोही जैसी शिष्ट-अशिष्ट गालियों से नवाजा गया। पर उन्हें जो तथ्य हासिल हो गए थे, उनका प्रचार-प्रसार वे निर्भय होकर करते रहे और अन्ततः 1508 संवत् (सन् 1451) में उनके अभियान को बड़ी सफलता मिली। 45 व्यक्तियों ने उनकी मान्यताओं को मान्यता देते हुए मुनि दीक्षा अंगीकार की। गुजरात से उठी यह दृढ़ाचार व निराकार पूजा की लहर राजस्थान, मेवाड़, मारवाड़, दिल्ली, पंजाब के छोरों को छू चली। यद्यपि शिथिलाचार और प्रतिमा पूजन के विरोध में तत्कालीन जैनों का बमुश्किल 10 प्रतिशत हिस्सा ही लामबंद हुआ था, पर उसी 10 प्रतिशत ने शेष समाज में हलचल मचा दी थी। क्योंकि अपने हाथों से अपनी गाढ़ी कमाई से बनाये हुए,

अपने अधिकार में चलने वाले मंदिरों, तीर्थस्थानों का कब्जा छोड़कर किसी के हाथ में सौंप देना आसान नहीं होता, जिन मंदिरों के चप्पे-2 को लोभ, श्रद्धा या भयभाव से मस्तक झुकाया, जिन्हें सदियों से अपना माना, उन्हें छोड़ पाना कितना कठिन होता है।

उम्र तो सारी कटी इश्के बुतां[1] में मोमिन[2]।
आखिरी उम्र में क्या खाक़ मुसलमां[3] होंगे ॥

वाली मानसिकता का परित्याग बड़ी दुर्लभ घटना होती है।

उनकी सभी मान्यताएं आगमों से ही उद्धृत हुई थी, पर हज़ारों वर्षों से चली परम्पराओं से भिन्न होने से सबको नई लगी और प्रचारित ये हुआ कि लोकाशाह नया धर्म खड़ा कर रहा है। धर्म के मामले में तो सौ साल पुरानी परम्परा भी अनादि कालीन और शाश्वत प्रतीत होने लगती है, यहां तो हज़ारों साल से अधिक काल की मोहर लगी हुई थी, और निर्विवाद रूप से श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों वर्गों ने अपनाई हुई थी। लोकाशाह द्वारा पुनर्जीवित की गई निराकारोपासना को अपनाने वाली जनता प्रारम्भ में जिनमती, ढूंढिया, साधुमार्गी आदि नामों से पुकारी गई। आज वह स्थानकवासी और तेरापंथ श्वेताम्बरों के रूप में जानी जा रही है।

स्थानकवासी परम्परा ने भी कई मोड़-मरहलों को पार किया है और आज भी नाना प्रकार के परिवर्तनों के दौर से गुजर रही है, विशेषतः मूर्ति के मुद्दे को लेकर।

लोकाशाह की क्रान्ति की ज्वाला कुछ सौ सालों में ही बुझने लगी थी। उसे श्री जीवराज जी म., श्री लवजी ऋषि जी म., श्री धर्म सिंह जी म., श्री धर्म दास जी म., श्री हरजी ऋषि जी म. प्रभृति कठोर संयमी मुनिराजों ने पुनः प्रदीप्त किया। जब-2 चिंतन का स्तर उठता जाता है, तब-2 मानव अमूर्त विचारों में जीने लगता है और जब-2 वह स्थूलता

---

1 मूर्ति पूजा, 2 मुसलमान, 3 गैर मूर्ति पूजक

के स्तर पर आता है तब-2 उसे मूर्त आलम्बनों का आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण मूर्ति को न मानने वाली संप्रदाय के मुनिराज तो प्रायः निराकारता को बचाये रहे और साकारता से बचते रहे पर गृहस्थ वर्ग के लिये इतना निरालम्ब धर्म कठिन हो गया, धर्म गुरुओं के प्रबल प्रचार प्रभाव के कारण मूर्ति पूजा और मंदिरों का परित्याग करने वाले काफी लोग प्रकारान्तर से मूर्ति से जुड़े ही रहे। जिस धर्म में मूर्ति और अमूर्ति दो विकल्प होते हैं, वहां घुमा फिरा कर मूर्ति आ ही जाती है। हां, जहां दो विकल्प ही नहीं केवल निराकारता ही हो, वहां साकार पूजा के प्रवेश की संभावना शून्यवत् होती है। इस्लाम को 14-15 सौ वर्ष हो गए पर वहां मूर्ति का प्रवेश नहीं हो पाया, क्योंकि वहां एक ही व्यवस्था है। सिक्खों ने भी 4-5 सौ साल से अपनी एक रूपता बरकरार रखी है। यद्यपि कहा जा सकता है कि इस्लाम ने भले ही मूर्ति नहीं अपनाई पर काबा के पत्थर को वहां भी पूजनीयता मिली है। कहावत है कि मुहम्मद साहब ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपने पैरोकारों को बुला कर हुक्म दिया कि मेरे मरने के बाद पहला काम तुम्हें ये करना है कि जिस खजूर के पेड़ के नीचे बैठकर मैंने इस्लाम का सन्देश प्रसारित किया है, उसे तत्काल काट देना। आश्चर्यचकित भक्तों ने कारण पूछा तो कहने लगे कि तुम लोग मेरे बाद मेरी शिक्षाओं को भुला दोगे और इस खजूर को ही पूजने लगोगे, पूजा सरल कार्य है, आज्ञा का पालन कठिन, ये तथ्य आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग स्तोत्र में स्वीकार किया है।

वीतराग सपर्यातस्तवाज्ञा पालनं वरं।
आज्ञाराद्धा विराद्धा हि शिवाय च भवाय च ॥

हे वीतराग तीर्थंकर, आपकी पूजा की अपेक्षा आपकी शिक्षाएं मानना अच्छा है। जो आज्ञा का विराधक है वह संसार में भटकता है और जो आज्ञा का आराधक है वह कल्याण को पाता है।

सिक्खों ने भी मूर्ति को छोड़ा पर गुरु ग्रन्थ साहब के प्रति वैसा ही समर्पण है जैसा कि मूर्ति के प्रति हो सकता है। तथा इतिहास सुरक्षा के

नाम पर हर मंदिर साहब, शीशगंज, हेमकुंड, नांदेड़ आदि बड़े-2 गुरुद्वारे बनाकर उन्हें तीर्थों की भान्ति श्रद्धा अर्पित कर रखी है। जड़ पूजा को सर्वथा त्यागना सामान्य मानव के लिए अशक्य सा है।

जैनों के गुण पूजक वर्ग स्थानकवासी एवं तेरापन्थ को अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखना तो और भी कठिन रहा है। पहला कारण रहा है अल्प संख्या। जिस वृहत्तर समुदाय के ये अंग हैं वहां चारों ओर मूर्ति पूजा है। दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णतया मूर्ति पूजा को स्वीकारता है। श्वेताम्बरों का भी बहुलांश मूर्ति में विश्वास और आस्था रखता है। अतः उस सामाजिक प्रभाव से अप्रभावित रह पाना अल्पसंख्यक वर्ग के लिए नितान्त कठिन होता है, जब तक कि वह अल्पसंख्यक वर्ग अधिक ज्ञान, शक्ति व श्रद्धा के बल से कट्टर न बन जाए। यद्यपि विश्व की समग्र जनसंख्या के आंकड़ों में अमूर्ति पूजक ज्यादा है, मूर्ति पूजक कम। क्योंकि ईसाईयत, इस्लाम और बौद्ध ये तीन मुख्य धर्म हैं जिनमें पहले दो तो मूर्ति पूजा को बिल्कुल नहीं मानते हैं, बौद्धों का कुछ अंश मूर्ति को स्वीकारता है, कुछ नहीं। पारसी, यहूदी, ताओ, कन्फ्यूशियस के अनुयायी भी निराकारतावादी है। पारसी अग्नि पूजक हैं। अग्नि पूजा भी मूर्ति पूजा नहीं मानी जाती जैसे सिक्ख ग्रन्थ को मानते हैं पर वह मूर्ति पूजा नहीं। हिन्दुओं में मूर्ति पूजा काफ़ी है, यद्यपि आर्य समाज की स्थापना मूर्तिपूजा की खिलाफत से हुई थी, पर वह ह्रास की ओर है। कुछ नूतन प्रचारक जो उभरे हैं वे स्वयं मूर्ति के समर्थक नहीं हैं, तो इस मुद्दे पर अधिक मुखर विरोधी भी नहीं हैं। जैनों का सामाजिक सम्पर्क उनसे है जो मंदिर और मूर्ति के उपासक हैं, इस सामाजिक सम्पर्क के साथ-2 दूसरा कारण मानव मन की गहराई में छिपी लोकेषणा है। इसने भी मूर्ति निषेधकों को मूर्ति की ओर पहुंचाया है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धर्म की ओर उन्मुख रहने वाला मन वहां तुरन्त चला जाता है, जहां उसे आश्वासन दिलाया जाता है कि यहां मुरादें पूरी होती हैं। धार्मिक जनता का 90 प्रतिशत हिस्सा धर्म को लोभ और भय से प्रेरित होकर करता है अतः अतिशय क्षेत्रों का निर्माण हुआ,

चामत्कारिक घटनाओं को कल्पित किया गया। कितने ही तीर्थ इसलिए महान कहलाए क्योंकि कहानी सुनाई गई कि यहां किसी ग्वाले की गाय आकर अपना दूध अपने आप निचोड़ कर चली जाती थी। कोई स्थान तीर्थस्थल इसलिए बन गए क्योंकि एक रात इस स्थान पर रथस्थ मूर्ति रोकी गई और अगले रोज रथ वहीं जम गया, घोड़ों से तो क्या, हाथियों के द्वारा भी वह रथ खींचा नहीं जा सका। अतः उस प्रभावशील स्थान पर मंदिर निर्मित हुआ। कहीं भूमिगत मूर्ति ने किसी को सपने में दर्शन दिये और उसका प्रकटी करण हुआ। इस तरह की एक जैसी पांच सात कहानियां ही सब अतिशय क्षेत्रों के पीछे प्रचलित मिलती हैं। कहानियों की यर्थाथता जाने बिना भीड़ के झुण्ड के झुण्ड एक झीनी सी आशा लिये वहां दौड़े चले आते हैं। भले ही उनकी मानसिक दुर्बलता और भौतिक विपन्नता जैसी की तैसी वहीं पड़ी रहती है।

है दैरो-हरम[1] में क्या रखा, जिस सिम्त[2] गया टकरा के फिरा,
किस पर्दे के पीछे है शोला, अंधा परवाना क्या जाने।
सिज़्दों[3] में पड़ा, पत्थर में गड़ा लेकिन न मिटा माथे का लिखा,
करने को गरीब ने क्या न किया, तक़्दीर बनाना क्या जाने॥

तीसरा कारण मन्दिरीकरण का ये रहा कि दीक्षित शिष्य और गृहस्थ शिष्य दिवंगत गुरुदेव को स्थायी रूप से अमरत्व प्रदान की ललक रखते रहे हैं। अपने गुरुदेव के शिक्षा वचनों को सर्वथा दर किनार करने वाले वे शिष्य पदचिन्हों से बढ़ते-2 मूर्ति निर्माण तक पहुंच जाते हैं। ऐसे अनेक स्थानकवासी साधु और गृहस्थ मिल जाएंगे जिनके गुरुदेव जड़ पूजा का प्रखर विरोध करते थे, और उनके वे फरजन्दे अर्जमंद उन्हीं को पुजवाने का व्यवसाय अपना रहे हैं। पहले समाधियां बनवाई, फिर चरण चिन्ह स्थापित करवाए, फिर चढ़ावे चढ़वाए और फोटो से चलते-2 मूर्ति स्थापना कर बैठे। ये मोह भी साकारोपासना को बल देता है।

---

1 मस्जिद मंदिर, 2 दिशा, 3 सिर झुकाना

चौथा कारण सरलता का है। निराकार परमात्मा का ध्यान करने की बजाय, साकार को देखना-पूजना अत्यन्त सरल है। फिर मन्दिरादि में अक्षतादि का अर्पण कर शीघ्र लौटना भी संभव है। जबकि निराकारोपासक को न्यूनतम 48 मिनट की सामायिक तो करनी ही पड़ेगी। आलम्बन हीन स्थान में आकर भक्ति करना लोगों को अटपटा लगता है, जबकि आकृति विशेष को वन्दना करना स्वाभाविक लगता है।

वस्तुतः तो आज का हर धार्मिक नेतृत्व अपने भविष्य को खतरे में देख रहा है। मूर्ति विहीन स्थानों वाले परेशान है कि हमारे यहां कोई नहीं आता, उनके अनुयायी अन्यत्र जा रहे हैं, तथा मूर्तियुक्त अधिष्ठाताओं की शिकायत है कि हमारे समाज ने मूर्ति को प्रमुखता तो दे दी पर गुरुओं की घोर उपेक्षा कर दी।

मूर्ति के आड़म्बरों में धन का अपव्यय बढ़ गया और सामाजिक निर्माण का मार्ग अवरुद्ध हो गया, संत-महात्माओं के स्वाध्याय-ध्यान को ग्रहण लग गया, निरन्तर प्रतिष्ठाओं, विधानों, अंजन शलाकाओं, बोलियों में ही जीवन की बर्बादगी हो रही है।

तुझको तलब[1] है जिसकी दोनों हैं उससे खाली।
दरवाज़ा खोल दिल का दैरो-हरम[2] में क्या है? ॥

दोनों तरफ से लोग विरोधी पक्ष की मनोमनी प्रशंसा भी कर रहे हैं। पारस्परिक स्तुति, निन्दा का ये जटिल विरोधाभास एक असमजंस पैदा कर रहा है। जैसे कि मेवाड़ में गांव-2 में सदियों पुराने उपेक्षित और परित्यक्त जैन मंदिरों का स्थानकवासी लोग जीर्णोद्धार कर रहे हैं या अपने लौकिक कार्यों की संमन्नता के लिये नये जैन-मंदिर बनवा भी रहे हैं। अन्य धर्मों के मन्दिरों में जाना उनके लिये संभव नहीं, स्थानकों, उपाश्रयों में विवाह आदि के रस्मो रिवाज अनुमत नहीं, अतः जैन मंदिरों

---

1 इच्छा, 2 मस्जिद मंदिर

की आवश्यकता पड़ती है, दूसरी तरफ कुछ स्थानकवासी व्यक्ति निजी स्तर पर मंदिर की प्रत्येक क्रिया को मिथ्यात्व, महा हिंसाकारक घोषित करके घृणामय वातावरण बनाने का प्रयत्न करते हैं। धूप जलाना, दीप प्रज्वलन, जलाभिषेक आदि में होने वाली एकेन्द्रिय हिंसा उनके लिए घोर पाप प्रतीत होती है। इसी तरह मंदिर मार्गी गुण पूजकों की सादगी का, निर्भार भिक्षाचर्या का जी भरकर स्तुति गान भी करते हैं और मुंहपत्ती जैसे निर्दोष चिन्ह की खुल्लम खुल्ला आलोचना भी करते हैं।

जबकि रास्ता उल्टा होना चाहिए– दूसरे को अपने घर में चैन से बैठने दें और खुद अपने घर की हिफाजत करते हुए टिककर बैठें। मंदिर मार्गियों को मुंहपत्ती के विरोध से क्या मिलेगा और स्थानक वासियों को मूर्तिपूजा की विधियों की आलोचना निंदा से क्या हासिल होगा। न किसी के घर के शीशों पर पत्थर मारें, न अपने घर पर मारने के लिए औरों को निमन्त्रण दें। इस पारस्परिक कटुता से धर्म को हानि ही होगी।

जमाने में चर्चे हैं दैरो हरम के।
बड़ी रौनकों पर हैं दोनों दुकानें ॥

स्थानकवासी परम्परा के प्रतिनिधि साधु-साध्वियां तथा श्रावक-श्राविकाओं को इन दोनों विक्षेपकारी मार्गों से सावधान होना है। मन्दिर और मूर्ति की इतनी आलोचना भी न करें कि आज के युवक तालिबानी मुसलमानों की तरह मूर्ति भञ्जक बन बैठें। 2001 में अफगानिस्तानी तालिबानों ने बुद्ध की हज़ारों वर्ष पुरानी मूर्तियों को राकेटों से तोड़कर सांस्कृतिक विध्वंस का जो कोहराम मचाया था, वैसी ही गूंज हमारे युवकों के दिलों में न उठने लगे, इससे भी बचना है तथा अपने धर्म स्थानों पर फोटो चित्रकारी बढ़ा-2 कर उन्हें कलावीथि बनने से भी बचाना है। आज साधु-साध्वी वर्ग के फोटो, चित्रों का प्रचलन रुकना अच्छा होते हुए भी संभव नहीं लगता क्योंकि कैमरों की सुलभता

ही इतनी हो गई कि हजार कोशिशों के बावजूद उन पर पाबन्दी शक्य नहीं हो सकती।

साधु-साध्वी वर्ग के देवलोक गमन के बाद स्मारक रूप में पहले युग में छतरीनुमा गुम्बद के नीचे चरण बनते थे, अब भव्य भवन बनने लगे है। स्मारकों का यह मोह भी छोड़ना होगा अन्यथा वीर लोकाशाह, पांच क्रियोद्धारक महापुरुषों, उनके अनुयायी आचार्य श्री अमर सिंह जी म., श्री पार्वती जी म. की कुर्बानियों पर पानी फिर जाएगा। जब आगमों के प्रकाण्ड ज्ञाता मुनिराज भावावेश में आ समाधियों का समर्थन करते है तो अनजान जनता गुमराही का शिकार हुए बिना नहीं रहती।

नाव डूबी ऐन साहिल[1] के करीब नाखुदा[2] की नाखुदाई[3] देख ली।
हर कदम पड़ने लगा मंजिल से दूर, रहबरों[4] की रहनुमाई[5] देख ली॥

स्थानक वासी परम्परा में चित्र तो आ गए– पहले हाथ से बनाए हुए, बाद में कैमरों के लिये हुए। समाधि और चरण चिन्ह भी आ गए, बस एक कमी बाकी थी मूर्ति की, अब उसकी भी आमद होने लगी है। बस आखरी मोर्चा भी टूट गया। मूर्ति लगाने वालों का तर्क और भावना गलत नहीं है पर फिर भी मूर्ति का प्रवेश गलत है। जिन परम्पराओं में इनकी स्वीकृति है वहीं तक रहे तो अच्छा है। वे मूर्ति से प्रेरणा लें या उसे श्रद्धा से वंदना नमस्कार करें तो उन्हें हम मिथ्यात्वी का फतवा नहीं देंगे पर अपने घर पर उनकी स्थापना करें तो Suicidal आत्मघाती कृत्य होगा।

धर्म सम्प्रदायों की एक विशेषता होती है कि अपने इतिहास की सुरक्षा के लिए अन्य संप्रदायों में प्रचलित क्रियानुष्ठान भले ही उपयोगी हों, पर यदि अपने मूल के घातक हों तो अपनाए नहीं जाते। उदाहरणार्थ

---

1 किनारा, 2 नाव चलाने वाला मल्लाह, 3 Navigation/चलाने की कला, 4 नेता, 5 नेतृत्व

इस्लाम में रमजान के महीने में रोज़े में रात को ही खाना खाया जाएगा, चाहे दिन का भोजन कितना ही फायदेमंद, उपयोगी और सुविधा जनक क्यों न हो। दिगम्बर समाज मुनित्व की पहचान नग्नता को ही मानेगी, भले ही पूरा विश्व नग्नता को घृणा की दृष्टि से देखे या श्रद्धा की। उपयोगिता होते हुए भी छोटी सी लंगोटी को नहीं अपनाएंगे। श्वेताम्बर मूर्ति पूजक समाज पूजा प्रक्षाल में, स्वाध्याय-वाचना में मुंह पर कैसे ही कपड़ा रख ले पर धागा नहीं डालेंगे।

इस्लाम ने 1400 साल में विश्व भर की यात्रा कर ली पर मूर्ति को नहीं अपनाया। परिवर्तन कितना ही आया हो, ये पहचान नहीं खोई। सिक्ख कुछ के कुछ हो गए पर मूर्ति को अंदर नहीं आने दिया क्योंकि ये उनकी प्रतिज्ञा है। ये पहचान का प्रश्न भी होता है। ऐसे ही स्थानकवासी परम्परा की बुनियादों में मूर्ति का अभाव, 32 आगमों की प्रामाणिकता, डोरे सहित मुख वस्त्रिका आदि तत्व रहे हैं, अतः उदारता के नाम पर, उपयोगिता के बहाने, श्रद्धा की आड़ में आने वाली मूर्ति को छोड़ना ही होगा अन्यथा इस सम्प्रदाय के स्वतन्त्र अस्तित्व को बचाना संभव नहीं होगा।

शुद्ध अध्यात्म की दृष्टि से इन बातों की कोई कीमत नहीं है, ये सब व्यवहार का चिन्तन है। जब तक शुद्ध अध्यात्म की भूमिका पर नहीं पहुंच जाते तब तक व्यवहार का निर्वाह करना ही होगा। शुद्ध अध्यात्म वालों की तो बात ही अलग है।

हम इश्क के बन्दे हैं, मजहब[1] से नहीं वाकिफ[2]।
गर काबा[3] हुआ तो क्या, बुत खाना हुआ तो क्या॥

हरम[4] क्या बुतकदा[5] क्या, मैं उसे घर-घर पुकार आया।
यही अब जी में आता है, कि दस्तक[6] दूं तेरे दिल पर॥

---

1 धर्म, 2 परिचित, 3 हज का स्थान, 4 मस्जिद, 5 मंदिर,
6 आवाज़ देना

भाग्यवाद बनाम पुरुषार्थवाद

समग्र विश्व विचित्रताओं से भरा है और एक जीव का अस्तित्व भी नाना प्रकार के रंगों का मिश्रण है। जब-जब मानव जीवन और जगत की पहेली को बुझाने का प्रयत्न करता है तब-तब सुलझने की बजाय उलझता जाता है। कुछ मनीषी और ज्ञानी महापुरुषों ने अवश्य इसके समाधान दिए हैं, पर लगता है कि वे खुद एक गुत्थी बन गए।

जब कभी मानव को आशा के विपरीत विपत्तियां घेरती हैं, वह एकदम पूछ उठता है कि मैंने कभी किसी का बुरा नहीं किया, फिर मेरे ऊपर इतनी मुसीबतें क्यों? जो लोग झूठ, बेईमानी करते हैं, उनके घर मौज है, मांसाहारी मुल्क समृद्ध हैं, भारत जैसा धर्म प्रधान देश गरीब है। उच्च कोटि के महात्मा भी भीषण बिमारियों से ग्रस्त हो जाते हैं। दो व्यक्ति लगभग समान स्थितियों में काम करते हैं, पर एक सफलता प्राप्त करता है, दूसरा नहीं। एक ही व्यक्ति जीवन में कभी सही निर्णय लेता है वही भिन्न समय में बिल्कुल गलत निर्णय लेता है। सभी को उतार चढ़ावों की अप्रत्याशितता से गुजरना ही पड़ता है। इन प्रश्नों को सामाहित करते हुए कुछ विज्ञ तो इस निर्णय पर पहुँचे कि भगवान् की मर्जी से ये सब होता है और यह निर्णय इतना व्यापक हो गया कि विश्व की अधिकतम जनसंख्या ने इसे सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया। **"ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा"** ईश्वर की प्रेरणा से जीव स्वर्ग नरक, सुख दुख प्राप्त करता है। God is all powerful ईश्वर सर्वशक्तिमान है। **"मुद्दई लाख बुरा चाहे तो क्या होता है, होता है वही, जो मंजूरे खुदा होता है॥ 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम, दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥"** (राम अर्थात् ईश्वर) Man Proposes God Disposes आदि वाक्य उसी ईश्वर-सिद्धांत को महिमा मंडित करने वालों की अभिव्यक्तियां हैं। ईश्वरवाद की अपनी

खामियां हैं। तर्क प्रधान चिन्तकों ने पहले तो उस अदृष्ट ईश्वर को ही पहले सिरे से नकार दिया, दूसरे उसे सर्व-शक्तिमान दयालु आदि विशेषण देने से संसार के दुखमय भाग का खुलासा नहीं हुआ। अतः चिंतकों ने उस ईश्वर की जगह प्रकृति को दे दी **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** प्रकृति के गुण ही सब काम निष्पन्न करते है। इसी बात को आम लोगों ने कुदरत का खेल कह दिया। जो इस सिद्धांत से संतुष्ट नहीं हुए उन्होंने सारी जिम्मेवारी काल पर डाल दी। **'कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः'** काल हर प्राणी को पकाता है और काल ही प्रजा का संहार करता है। **'वक्त की हर शै गुलाम' "वक्त-वक्त का फेर है" 'समय-समय की बात है'** आदि वाक्य उसी चिन्तन धारा के परिचायक हैं। असमाहित मन आगे बढ़ा, उसने विधि को, होनी को नियति को पकड़ा। जो होना होता है, वही होता है, जो नहीं होना वह नहीं होता। राम वनवास और दशरथ मृत्यु के बाद भरत को ढाढस देते हुए वशिष्ठ ऋषि ने कहा था- **'सुनहु भरत भावी प्रबल, विलख कहेहूं मुनिनाथ, लाभ हानि जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ'॥** सौ प्रयत्न करने पर भी राजाओं की संतान काल कर जाती है, दूसरी तरफ जंगल में लावारिस फैंका बालक भी बच जाता है, यह सब नियति के अधीन होने से होता है। इस नियतिवाद ने भी ईश्वरवाद जितना तो नहीं, कुछ-2 उसके बराबर जितना बहुमत अपने पीछे लगा लिया। अपने कई-कई नाम रख लिए और कई-कई शार्गिद अपनी सेवा में रख लिए। भाग्य, किस्मत का चक्कर, माथे का लिखा आदि इसके उर्फ उपनाम (Alias) हैं। ज्योतिष, हस्तरेखा, अंकविद्या आदि सैकड़ों गप्पी चेले इसकी खितमत बजाते हैं। इसने बड़ी-बड़ी कहानियां घड़ी। "एक आदमी निश्चित स्थान, निश्चित वक्त, निश्चित विधि से ही मरता है, अन्यथा नहीं" इस तरह की सैकड़ों Theories के बावजूद मनुष्य का तर्कशील मस्तिक संतुष्ट नहीं हुआ। क्योंकि जो कुछ उसे सिद्धांत या समाधान के रूप में परोसा गया वह अदृश्य होने से Provable नहीं था। जबकि उसने अपने हाथों से वो काम भी किए जो ईश्वराधीन

माने जाते थे। उसने कालचक्र के भी कुछ चक्र खंडित किए, प्रकृति का दोहन करके उसको उसकी हैसियत दिखा दी। किस्मत की लकीरों पर भी अपने दम पर पौन्छा फेरा। जो प्रत्यक्ष है उसे कैसे नकारें। उसके स्वर कुछ यों मुखरित हुए- **'अप्पा कला विकत्ता य सुहाण य दुहाण य'** आत्मा अपने सुख दुखों का कर्त्ता और विकर्त्ता (विनाशक) स्वयं हैं **'खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है**? Man is the Sole Architect of his own fate. **"ऐ दिले बर्बाद मत कर आसमानों का गिला, तेरी ही तामीर है, जो कुछ भी है ये सिलसिला॥" "तकदीर से बड़ी तदबीर" "सुनेहा दी हत्थीं तू होणी नूं कहदे के चक्कर तेरे मैं पवा के हटांगा।"**

पहले यह विचारधारा बेचारे लोकायतों की महफिलों तक सीमित रही, पर जबसे विज्ञान ने अदृष्ट का तख्ता पलट किया है तब से इसके Voter और Votary भी काफी संख्या में हो गए। मगर इन लोगों की दिक्कत या दुर्बलता ये रही कि इन्होंने केवल दृष्ट तत्व और प्रत्यक्ष प्रमाण को ही सब समस्याओं का समाधान मान लिया। अतः इनकी सतही और छिछली दृष्टि भी जनमानस को समाहित नहीं कर पाई और ऐसे मौके पर आया जैनों का कर्मवाद, जिसमें दृष्ट और अदृष्ट दोनों ही पक्षों की सत्यता को स्वीकार किया। धार्मिक जगत में जैनों ने ही ये घोषणा की थी कि मानव पुरुषार्थ से भी अपने जीवन का निर्माता है। यह पुरुषार्थवाद ईश्वरवाद के लिए एक चुनौती थी। जैनों ने एक कमाल कर दिया कि नास्तिकों को भी सही कर दिया। जैनों के पास अनेकान्तवाद की ऐसी Master Key है जिससे सब बंद ताले खुल जाते हैं। जब जैनों ने ईश्वर की सत्ता को चुनौती दी और आत्म कर्तत्ववाद (पुरुषार्थवाद) का बिगुल बजाया तो सामान्य मानव की समझ में नहीं आया कि जैन आस्तिकों के समर्थक हैं या नास्तिकों के। कुछ लोगों ने तो इन पर 'नास्तिक' का लेबल लगा ही दिया। उन्हें क्या पता था कि जैन आस्तिकों और नास्तिकों के खेमों में न बंटकर सत्य के पक्ष में हैं। जैनों की मान्यता है कि आत्मा स्वतंत्र है, कर्म का कर्त्ता है और कर्म के

माध्यम से सुख दुख की स्थिति के लिए खुद ही जिम्मेवार है। जीवन की सब विषमताएं, विचित्रताएं, विविधताएं कर्म के कारण हैं। विविध प्रकार का बौद्धिक सामर्थ्य, शारीरिक संवेदनों की अनुकूलता-प्रतिकूलता, आयु की दीर्घता-अल्पता, शरीर का सौष्टव, सामाजिक प्रतिष्ठा, शक्ति की न्यूनाधिकता तथा मानसिक संवेगों की प्रबलता, अप्रबलताओं के पीछे कर्म की शक्ति ही काम करती है। ये जैनों की धारणा है।

फिर वही समस्या खड़ी हो गई, क्या जीवन की प्रत्येक गतिविधि, क्या संसार का समग्र घटना कर्म के अधीन है? यदि ऐसा है तो प्रकारान्तर से जैनों ने भी ईश्वर को स्वीकार कर लिया, केवल शब्द ही बदला है भाव तो ज्यों के त्यों हैं।

इस समस्या कां समुचित समाधान देते हुए जैन आगमों ने कहा- कि भले ही सृष्टि व्यवस्था में कर्म का बहुत बड़ा हाथ है पर आत्मा (जीव) कर्म से भी ऊपर है। वह कर्म को बनाता है, बिगाड़ता है, फल देने का सामर्थ्य प्रदान करता है, उसका सामर्थ्य छीन लेता है। उसके फल-प्रदान स्वरूप को परिवर्तित भी कर देता है। अर्थात् जैनों के कर्मवाद सिद्धांत में भाग्यवाद का प्रभाव अल्प है, पुरुषार्थवाद की संभावना अधिक है। पुरुषार्थ प्रेरक कर्मवाद ही जैनों की विशेषता है जो कभी भी किसी भी अन्य दार्शनिक को नसीब नहीं हुई। परन्तु जैन समाज में भी प्रायः देखा गया है कि कर्म सिद्धांत की विवेचना करते हुए उसे नियतिवाद या भाग्यवाद की तरह व्याख्यायित किया जाता है। जैनों की कर्म सिद्धांत के संबंध में जो विशेषता रही है, उसी विशेषता को उपेक्षित कर दिया जाता है। गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अंगारे रखे गए, भगवान् महावीर के कानो में कीले ठोके गए आदि दृष्टांतों के द्वारा कर्म की सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करके हमें **'जेहि विधि राखै राम तेहि विधि रहिए'** के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी जाती है या फिर बुरे काम से बचने की शिक्षा। लेकिन कर्मवाद ऐसी धारणा का ही पोषक

नहीं है। जीवन के प्रत्येक चरण पर जहां जहां कर्म है, वहां वहां आत्मा की स्वतंत्रता भी है।

सर्वप्रथम जीवात्मा किसी भी कार्य को करने या न करने में पूर्णतः स्वतंत्र है। कोई भी शक्ति जीव को कार्य करने के लिए बाध्य नहीं करती। दूसरे, बंधे हुए कर्म जिस प्रकृति (स्वभाव) को लेकर जीव के साथ जुड़ते हैं, अधिकांश Cases में उनका स्वभाव बदला जा सकता है, जिसे गुण संक्रमण कहा जाता है। जितनी स्थिति (Duration) प्रथमतः निर्धारित होती है वह प्रायः कम भी हो जाती है, जिसे स्थितिघात नाम दिया है। फल की तीव्रता और मंदता भी परिवर्तनीय है और इस प्रक्रिया का नाम रसघात है।

एक और महत्त्वपूर्ण मान्यता ये है कि कर्मों का बहुत बड़ा हिस्सा तो प्रदेशोदय से ही नष्ट हो जाता है अर्थात् अपना विपाक (फल) दिए बिना ही अस्तित्वहीन हो जाता है। कर्मों के भोग को समय से पूर्व भोगना - जिसे उदीरणा कहा जाता है- भी एक विशिष्ट अवधारणा है।

कर्मों के विषय में 'कूटस्थता (Fixation – Non-tangability) का प्रतिपादन केवल निकाचना शब्द के द्वारा हुआ है, जिसका अभिप्राय ये है कि कुछेक बांधे हुए कर्म अवश्य ही अपना फल देते हैं। इन कर्मों का अनुपात अत्यल्प होता है।

इस भूमिका के साथ अब हमें विश्व व्यवस्था की विचित्रताओं को समझने में आसानी रहेगी।

सामान्य मानव की एक ही शिकायत रहती है कि मैं श्रम भी करता हूँ तो भी मुझे सफलता नहीं मिलती जबकि मेरा पड़ौसी बिना मेहनत के समृद्धि के शिखरों को छू रहा है, क्या ये वैषम्य कर्मकृत है?

प्रथम दृष्ट्या यही प्रतीत होता है कि उस व्यक्ति ने अपने श्रम को अधिक आंक लिया है और फल की कामना अधिक कर ली तथा अपने पड़ौसी के श्रम का अल्पांकन करके उसकी फल प्राप्ति को

अधिक मान लिया और दूसरी बात ये भी हो सकती है कि उस व्यक्ति ने स्वयं शरीरिक पुरुषार्थ अधिक किया हो जबकि उस कार्य की संपूर्ति के लिए बौद्धिक पुरुषार्थ अधिक उपेक्षित होता हो और उसका पड़ौसी उस दिशा में अधिक बढ़ा चढ़ा हो।

एक गरीब बालक पूरी श्रम निष्ठा से अध्ययन करके, नाना संघर्षों को जीतते-जीतते अन्ततः देश के सर्वोच्च सम्मान को प्राप्त करता है जैसे कि लिंकन या A.P.J. अब्दुल कलाम। तब भी जनसाधारण की एक ही प्रतिक्रिया होती है कि इसने पूर्व जन्म में कोई अच्छा कर्म किया है जो इतने ऊँचे पद पर पहुँचा है। इस प्रकार का निर्णय करने से पूर्व वह भूल गया कि उस चर्चित व्यक्ति को वहां तक पहुंचाने में उसका बहुमुखी पुरुषार्थ ही काम आया है।

इसी तरह हमें यूरोप और यू.एस. जापान चीन आदि मुल्कों के विकास को भी समझना होगा। उन्होंने जो कुछ अर्जित किया है वह अपनी श्रम-संस्कृति के परिणाम स्वरूप ही किया है। अभी कुछ अर्से से भारतीय समाज में भी कुछ विकास के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। वे भी नई पीढ़ी की श्रम भावना के आविष्कार का फल है। लौकिक सफलता के लिए शारीरिक, बौद्धिक सामुदायिक श्रम की आवश्यकता होती है तो आध्यात्मिक उत्थान के लिए अध्यात्मिक पुरुषार्थ की।

भगवान महावीर को 'श्रमण' विशेषण इसीलिए मिला है क्योंकि इनके दर्शन में मुक्ति के लिए 'श्रम' करना पड़ता है। वह किसी परमात्मा या कर्म की देन नहीं अपितु स्व श्रम से अर्जित आत्म समृद्धि है। भौतिक स्तर पर हम वैज्ञानिकों को भी श्रमण (श्रम जीवी) कह सकते हैं क्योंकि उनके श्रम की बदौलत ही आज अचिन्तित आविष्कारों की झड़ी लगी है।

कर्म सिद्धांत को पूर्णतः तर्क संगत रखने के लिए हमें मानना चाहिए कि जीवात्मा को जन्म के समय जो कुछ मिलता है- शरीर, परिवार या परिस्थिति वे पूर्वजन्म कृत कर्मों के परिणाम हैं पर जैसे-जैसे

उसका जीवन बढ़ता जाता है पूर्वकृत कर्मों का प्रभाव न्यूनतर होता जाता है। उसकी जैवीय स्वतंत्रता के आयाम खुलते जाते हैं। सामाजिक स्थितियों का प्रभाव मानव पर और उसका सामाजिक व्यवस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। उसे जीवन में जो कुछ हस्तगत होता है। उसे केवल कर्मजन्य मानने से पूर्ण समाधान नहीं होता। कर्म का दखल केवल Genes के Level तक मानना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव, शरीरिक बनावट, बौद्धिक क्षमता, आवेगों का तारतम्य आदि Genes पर निर्भर माना जाता है, इन्हीं उपलब्धियों को हमें कर्म से उत्पन्न मानने में सहूलियत रहेगी। क्योंकि Genes और कर्म की Theory आपस में काफी समान है। यदि हम जीवन की प्रत्येक घटना को कर्म से जोड़ेंगे तो ढ़ेर सारे प्रश्न खड़े हो जाएंगे जिनका समाधान निकालना असंभव हो जाएगा। मसलन, किसी परिवार का होनहार युवक किसी दुर्घटना में काल कर गया, उसकी मृत्यु से माता-पत्नी-पिता-बच्चे ससुराल मित्र व्यवसायिक संबंधी अलग-2 ढंग से पीड़ित होते हैं, सब कहते हैं हमारे बुरे कर्मों का उदय हुआ है। तो क्या 10-12 आदमियों के कर्मोदय के कारण उसकी मृत्यु हुई है या उसके अपने आयुष्य कर्म की समाप्ति से वह काल कवलित हुआ, अथवा Accident के समय होने वाली व्यक्ति विशेष की गलती से वह मृत्यु हुई है। यथार्थ तो स्पष्ट है कि किसी के कर्मोदय से वह युवक पूरा नहीं हुआ, न ही उस युवक की आयु सीमा संपूर्ण हो गई थी, हां दुर्घटना के बाद स्थितियां ऐसी बनी कि उसकी आयु स्थिति नष्ट हो गई। यों समझना चाहिए उसकी आयु पूर्ति की वजह से वह दुर्घटना न हो कर, दुर्घटना की वजह से उसकी आयु पूर्ण हुई है। मूलतः तो किसी न किसी व्यक्ति की भूल से वह युवक दिवंगत हुआ है और इसी कारण अपराधी को पकड़ा जाया करता है, दण्डित किया जाता है। यदि दुर्घटना में व्यक्ति तत्काल काल न करे तो उसे बचाने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, कितनी ही बार प्रयास सफल भी होते हैं। ये सब सूचित करता है कि प्रत्येक घटना को उसी संदर्भ से जांचना चाहिए जिस संदर्भ से वह घटना घटित हुई है। यदि हमारे पास

किसी घटना के लिए दृष्ट कारण समुपलब्ध हो तो हमें अदृष्ट कारणों का आश्रय नहीं लेना चाहिए। यदि किसी भी तरह से दृष्ट कारण समझ न आए तब जाकर अदृष्ट का पल्ला पकड़ना वाजिब है। इसी तरह जब किसी भूकम्प, बाढ़ तूफान आदि से विपुल मात्रा में जनहानि होती है उस समय एक बात आश्वासन के तौर पर उछाली जाती है कि मरने वालों या घायलों का सामुदानिक कर्म उदय में आ गया। वस्तुतः कर्म एक व्यक्तिगत घटना है, न कि सामूहिक और न ही जैन आगमों में सामुदानिक कर्म जैसा कोई शब्द मिलता है, यदि हम गौर करें तो ज्ञात होगा कि भूकम्प आदि के कारण मनुष्यों की मृत्यु नहीं होती अपितु मनुष्यों ने जो असुरक्षित इमारतें बनाई हैं, उनके कारण मनुष्य मरते है, दबकर घायल होते हैं। बाढ़, तूफान भी कुछ प्राकृतिक घटनाएँ हैं, कुछ मानव कृत भी। इन सबके पीछे यदि हम कर्म को ही भिन्न-2 ढंग से प्रस्तुत करेंगे तो सत्य से दूर जाने का खतरा खड़ा हो जाएगा। मूल बात ये है कि मनुष्य का पुरुषार्थ तो सामूहिक हो सकता है, कर्म नहीं। हजारों आदमी मिलकर विप्लव भी मचा सकते हैं, विप्लव को टाल भी सकते हैं। जैसे आज Global Warming की खतरनाक हालत मनुष्यों के कुपुरुषार्थ से जन्मी है और नई-2 उपलब्धियों के लिए मनुष्यों ने सामूहिक सुपुरुषार्थ किया है, चीन ने अपने दारिद्र्य को मिटाया है, जापान बर्बादगी के कगार से ऊपर उठकर समृद्धि के शिखरों पर है, ये वहाँ के नेतृत्व और प्रजा के सामुदायिक सत्पुरुषार्थ का परिणाम है।

पुरुषार्थवाद को भगवती सूत्र में आत्मशक्ति का चमत्कार व आविष्कार बताया है। उपासक दशांग में भी पुरुषार्थ को ही कार्य जगत् का निर्धारक कारण प्रस्तुत किया है।

परन्तु पुरूषार्थ बहुत कुछ होते हुए भी सब कुछ नहीं है। ये भी हमें नहीं भूलना। भगवती सूत्र में ही कहा है- अस्तित्व अस्तित्व ही रहता है और नास्तित्व नास्तित्व ही रहता है, पुरुषार्थ से इन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता। असत् को सत् बनाना तथा सत् को असत्

बनाना पुरुषार्थ से साध्य नहीं है। इसके अलावा जैसे एक राजा को अपने मंत्री, सेनापति आदि की सहायता से विजय मिलती है उसी तरह पुरुषार्थ को भी कुछ सहयोगियों की आवश्यकता पड़ती है। वे सहयोगी कर्म, नियति काल और प्रकृति भी हो सकते हैं और यदृच्छा भी। यदृच्छा अर्थात् संयोग = Chance जैसे कोई विवाहदि होते हैं, दो व्यक्तियों का मिलन होता है। उनका स्वभाव मिलता है या नहीं, भविष्य में उनका क्या कुछ होता है, संतान कैसी निकलती है, इन सबको हम यदृच्छा से जोड़ना चाहेंगे, हां पुरुषार्थ से उनके अच्छे बुरे स्वरूप को बदला तो जा सकता है।

पुरुषार्थवाद के लिए एक चुनौती किंवा अभेद्य दीवार बनकर खड़े होने वाला सिद्धांत, धार्मिक जगत के सामने, खास तौर पर जैन धर्म के सामने - सर्वज्ञता = केवलज्ञान का सिद्धांत है। सर्वज्ञता का सिद्धांत मानता है कि अनन्त भविष्य की एक-एक घटना सर्वज्ञ भगवान् देख चुके हैं। जब उन सबको ऐसे ही घटित होना है तो पुरुषार्थ के लिए कहाँ गुंजाईश है? कई बार तो लगता है कि सर्वज्ञता का सिद्धांत ईश्वरवाद से भी ज्यादा आत्म-स्वातन्त्र्य विरोधी है।

किसी भी आगम-प्रमाण प्ररूपक व्यक्ति के लिए इस सिद्धांत के आगे घुटने टेकने ही पड़ेंगे। तदपि धृष्टता के लिए क्षमायाचना के साथ कुछ कहने का मन है। जैनागमों में वर्णन है कि ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म, मोहनीय कर्म और अंतराय कर्म के क्षीण होने से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की उपलब्धि जीवात्मा को होती है। अनन्त ज्ञान, दर्शन को ही केवलज्ञान या सर्वज्ञता के नाम से पुकारा जाता है। तथा अंतराय कर्म के क्षय से अनन्त वीर्य की व्याख्या करते हुए लिखा जाता है कि अरिहंत और सिद्धों को अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग तथा अनन्त वीर्य ये पांच लब्धियां प्राप्त होती हैं। अरिहंत सिद्ध भगवान् इन पांच अनन्त लब्धियों का उपयोग किस तरह करते हैं तथा इन लब्धियों का

स्वरूप ही क्या है, ये कहीं भी स्पष्ट नहीं किया जाता। वो दान नहीं देते, वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते, भोग-उपभोग भी नहीं करते, फिर भी उन लब्धियों के स्वामी हैं। उन लब्धियों की परिभाषा और स्वरूप के संबंध में तो कहीं उल्लेख नहीं मिलता पर अनन्त वीर्य के संबंध में एक चिंतन आया है कि 14वें गुण स्थान में तथा सिद्धावस्था में योग निरोध, योगाभाव होने से उनकी वीर्यलब्धि अकरण वीर्य के रूप में होती है जबकि 13 वें गुणस्थान में वह करण वीर्य के रूप में। अब प्रश्न है कि क्या केवली भगवान् शरीर शक्ति से (करण-वीर्य से) समस्त सृष्टि का भार वहन करते हैं? जैसा कि कथानक है कि प्रभु महावीर ने सुमेरू पर्वत को अपने पादांगुष्ठ से हिलाया था, क्या उन्हीं अर्थों में हर केवली समग्र विश्व को हिला सकता है या हिलाता है। बल वृद्धि का क्रम बताते हुए बैल-घोड़ा-शेर-अष्टापद-बलदेव-वासुदेव-चक्री इन्द्र को अधिकाधिक बली बताया है और अन्ततः जिनवर की सबसे छोटी अंगुली की शक्ति उन से अनन्त गुणी बताई है। उस शक्ति, बल, वीर्य का स्वरूप जैसे हमें अज्ञात है, संभव है कि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन का स्वरूप भी हमें अज्ञात ही हो। आगम की यह भी मान्यता है कि केवलज्ञान के समय मति, श्रुत, अवधि तथा मनः पर्यायः ये चारों ज्ञान नहीं रहते इससे यही अभिप्राय झलकता है कि कोई भी मति श्रुत ज्ञानी केवल ज्ञान के स्वरूप को जान ही नहीं सकता। अतः केवलज्ञानी अघटित घटना को जानते हैं तो किस रूप में जानते हैं यह हम अल्पज्ञों की ज्ञान सीमा से बाहर है। इसी आधार पर ये कहा जा सकता है कि केवली भविष्य कालीन प्रत्येक घटना को जानता है तो निश्चित नहीं है कि सब कुछ नियत ही हो गया। केवली के संबंध में वर्णन है कि वह नियत को भी जानता है तथा अनियत को भी। इस वाक्य का स्पष्टार्थ यही है कि कुछ नियत है तो कुछ अनियत भी है तथा जिस विषय में अनियतता है उसी विषय में पुरुषार्थ के लिए द्वार खुला है। उदाहरणार्थ आज के दिन ये नियत था कि सूर्य 5.23 पर उदित होगा तथा 7.15 पर अस्त होगा। इस नियति पर पुरूषार्थ असफल है। पर कौन व्यक्ति

उस सूर्योदय को देखेगा कौन नहीं, ये नियत नहीं है। कौन आज की तेज गर्मी में झुलसेगा, कौन नहीं, ये भी अनियत है। मानव पुरुषार्थ से पानी पी सकता है, पंखे-कूलर-ए.सी. से प्राकृतिक गर्मी को अपने ऊपर हावी होने से रोक सकता है और यही पुरुषार्थवाद की अन्य सब प्रतिरोधी शक्तियों पर विजय है।

मानव ने पुरुषार्थ के बल पर जहाँ हवा में छलांग लगाई, पहाड़ों में सुरंगें बनाई, सागरों की सतह को नापा, कम्प्यूटर बनाया, वहीं अध्यात्म के क्षेत्र में परम शान्ति, सदाचार, उग्र तपस्या तथा मोक्ष तक को प्राप्त किया।

कर्मवाद को भाग्यवाद का रूपांतर या नामांतर बनाना भगवान् महावीर को अभीष्ट नहीं था। वे इसे प्रबल पुरुषार्थवाद का पर्याय बनाना चाहते थे। तभी तो भगवान् ने कहा कि कर्म तो भौतिक पौदगलिक (Material) है। जबकि आत्मा उपयोगवान है और उपयोग पुरुषार्थ का सूचक है।

जैन धर्म के एक रूपक चलता है- कर्म बली रे कर्म बली, कर्मों के आगे न किसी की चली। उत्तर है- आत्म बली रे आत्म बली, आत्मा के आगे कर्मों की नहीं चली। शेर पिंजरे में है तो बलवान कौन है? - शेर या पिंजरा? उत्तर - शेर को पीछे हटकर छलांग लगाने जितनी जगह नहीं है, इतनी जगह होते ही वह पिंजरे को तोड़ देगा। ऐसे ही आत्मा पर कर्म हावी है पर जैसे ही वह ज्ञान दर्शन चरित्र का पुरुषार्थ अपनाता है, कर्म छिन्न भिन्न हो जाता है। इस सारी चर्चा का लब्धार्थ ये है कि कर्मवाद पुरुषार्थवाद को पुष्ट करता है, भाग्यवाद को नहीं।

क्रियावाद एवं कर्मबंध

जैन पारिभाषिक शब्दों में 'क्रिया' ऐसा शब्द है जिसके अर्थ संदर्भ के अनुसार बदलते रहे हैं। 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और क्रिया के संयोग से मोक्ष होता है। इस वाक्य में क्रिया का अर्थ चारित्र है। इसीलिए अच्छे संयमी मुनि को 'क्रियापात्र' का विशेषण दिया है। शुद्ध समाचारी का पालन करना, कठोरता पूर्वक नियमों का निर्वाह 'क्रिया' का वाच्यार्थ हो गया है।

आचारांग सूत्र के प्रारम्भ में आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद तथा क्रियावाद का वर्णन है। जहां क्रिया का अभिप्राय है पुरुषार्थवाद— जिसके द्वारा आत्मा कर्ममुक्त हो सकती है। सूत्रकृतांग में वीरत्थुई अध्ययन में लिखा है— 'किरिया किरियं वेणइयाणुवायं अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं' भगवान् महावीर ने क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद को जाना। इन्हीं चार वादों को भगवती सूत्र में 'चत्तारि समोसरणा पण्णता' कह कर समवशरण की संज्ञा दी गई है। क्रियावाद को यहां सम्यक्त्व का पर्यायवाची सिद्ध किया गया है क्योंकि वहां वर्णन है कि क्रियावादी नारकी (सम्यक्त्वी नारकी जीव) मनुष्य आयु का ही बंध करता है। यहां आत्मा की सत्ता को मानना क्रियावाद है।

सूत्र कृतांग में 13 क्रियास्थानों की विवेचना करते हुये हिंसा के 13 कारण या विधियां वर्णित की हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में आस्रवों के वर्णन में अव्रत, कषाय इन्द्रिय तथा क्रियाओं को गिना है। और 25 क्रियाओं का उल्लेख किया है। 5-5 क्रियाओं के अलग अलग पांच ग्रुपों को इकट्ठा कर के 25 क्रियाओं का संग्रह किया गया है। भगवती सूत्र जैसे प्रमुख आगम में क्रियाओं के दो ग्रुप ही पुनः पुनः चर्चित हुये हैं। पहला है— आरम्भ क्रिया, परिग्रह क्रिया, माया क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया और मिथ्या दर्शन क्रिया। सर्वाधिक चर्चित ग्रुप रहा है— कायिक क्रिया, अधिकरण क्रिया, प्रद्वेष क्रिया, परितापन क्रिया और

प्राणातिपात क्रिया का। क्रियाओं का सबसे संक्षिप्त रूप है– सांपरायिक और ईर्यापथिक क्रिया। कषाय पूर्वक होने वाली क्रिया सांपरायिक और कषाय रहित क्रिया है ईर्यापथिक क्रिया। कई प्रसंगों में कषाय के रहते हुये भी यदि यतना का पालन हो रहा हो तो भी ईर्यापथिक क्रिया मान ली गई हैं, न कि सांपरायिक (भगवती सूत्र 7वां शतक 7वां उद्देश्यक)

क्रिया शब्द के नाना अर्थों की वजह से जैन धर्म में कुछ भ्रान्तियों का प्रवेश दीर्घकाल से होता रहा है। एक मुख्य भ्रान्ति ये पनपी है– 'क्रिया' को कर्मबंध के रूप में या पाप के रूप में लिया जाने लगा है– जैसे कोई शिकारी किसी पशु पक्षी को मारता है तो प्राणातिपातिकी क्रिया से स्पृष्ट होता है अर्थात् वह प्राणातिपात पाप का भागी है और उसे प्राणातिपात जन्य कर्मबंध होता है। यहां तक तो क्रिया और कर्मबंध एक ही प्रतीत होते हैं परन्तु जब यह कहा जाता है कि उस शिकारी के द्वारा प्रयुक्त किए गये धनुष, डोरी, तीर, तीर के नुकीले लोहांश आदि के शरीर जिन जीवों के कारण बने हैं उन्हें भी प्राणातिपातिक क्रिया लगती है और इस क्रिया के लगने का अर्थ यह लिया जाता है कि उन जीवों को पाप लगता है और उन्हे कर्मबंध होता है तब यह मान्यता एक भ्रान्ति के स्तर पर पहुंच जाती है। मेरा इस विषय में विशेषज्ञाता चिंतकवर्ग से निवेदन है कि इस धारणा प्ररूपणा पर पुनर्विचार किया जाये। कुछ विचार बिंदु जो उभरे हैं वह विचारशील व्यक्तियों की सेवा में प्रस्तुत हैं। प्रस्तुत करने से पूर्व निवेदन है कि इसे आगम-विरोध के रूप में न लें, केवल परम्परा से आये हुये अर्थ पर नई नजर डालने का प्रयास समझें।

जैन धर्म की मौलिक मान्यता यह है कि अपने द्वारा किये हुये कार्यों से ही कर्म का बंध होता है। किसी अन्य का कार्य दूसरे को नहीं लगता। पिता यदि अधर्म करता है तो उसे कर्म का बंध होता है और दुर्गति को प्राप्त करता है। पुत्र पाप कर्म करता है तो उसका फल वह भोगता है। पिता उसकी क्रिया से लिप्त नहीं होता। आ. अमित

गति का कथन है– 'स्वयं कृतंकर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्' आत्मा जो कर्म करता है उसका वही फल भोगता है। इस सिद्धांत का मूल तो भग. सू. प्रथम शतक छठा उद्देशक, 17वें शतक 4 उद्देशक में प्राप्त होता है। जहां स्पष्ट वर्णन है कि जीव आत्मकृत वेदना को वेदते हैं परकृत को नहीं। हिंसा, असत्य आदि 18 पापों का सेवन जो भी करता है वही फल का भोगी होता है, न कि उस से भिन्न प्राणी।

कर्मबन्ध के सम्बन्ध में दूसरा तथ्य है कि जीवात्मा द्वारा वर्तमान में की जाने वाली क्रियाओं से ही कर्मबंध होता है न कि भूतकालीन और भविष्य कालीन। अतीत काल में, बचपन में, पूर्व भव में उसने क्या अनुष्ठान किया है उसका बंध उसे तब ही हो चुका, उससे वर्तमान में बंध हो ऐसा बिल्कुल नहीं है। भविष्य काल में वह क्या करेगा यह भी कर्मबंध में निर्धारक नहीं है। जब करेगा तब कर्मबंध हो जायेगा। पर उस आगामी कालीन क्रिया से वर्तमान में कर्मबंध नहीं हो सकता है। भूत और भविष्य दोनों काल और तत्कालीन क्रियायें कर्मबंध में अकिंचित्-कर हैं। भ. सू.। शतक 10 उद्देशक में अन्य यूथिकों का प्रबल खंडन करते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

तीसरा तथ्य है कि आत्मा जिस आकाश क्षेत्र में विद्यमान होती है तत्रस्थ कर्म पुद्गल ही आत्मा के साथ एकमेक होकर बंध जाते हैं किसी अन्य स्थान से उठकर कर्म परमाणु आत्मा के साथ बद्ध नहीं होते। तत्त्वार्थ सूत्र 8वें अध्याय में लिखा है– 'नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाढ़ स्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानंत प्रदेशाः' आत्म-प्रदेशों के हर ओर आकाश प्रदेशों में विद्यमान कर्म वर्गणा के अनन्तानन्त-प्रदेशी स्कंध योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों से सम्बद्ध हो जाते हैं।

इतनी स्पष्टता के बावजूद जैन धर्म के कई तबकों में यह धारणा बनी हुई है कि अन्य व्यक्ति के आचरण से अन्य व्यक्ति भी कर्मबंध कर लेता है। जैसे ये कहना कि यदि एक डाक्टर किसी मरीज को

बचाता है और वही मरीज स्वस्थ होने पर किसी की हत्या कर देता है तो उस हत्या का पाप डाक्टर को भी लगेगा। यह मान्यता मूलतः आगम सम्मत नहीं है क्योंकि डाक्टर रक्षाकर्ता है और मरीज हत्याकर्ता। एक व्यक्ति का कार्य दूसरे के लिए कर्मबंध का कारण कैसे हो सकता है? डाक्टर ने अपना कर्म किया, मरीज ने अपना। जब और जिस स्थान पर मरीज ने हत्या की, उस वक्त और उस स्थान पर डाक्टर है ही नहीं, फिर उसके पास कर्म पुद्गल कहां से उड़ कर आयेंगे और कैसे चिपकेंगे? और यदि डाक्टर हत्या के समय जीवित ही नहीं रहा तो वह कर्म अगले किसी जन्म में कैसे उसके पास पहुंचेंगे? इन सब प्रश्नों का सीधा सा उत्तर है कि किसी के कर्म दूसरे को नहीं लगते। कर्मबंध नितान्त निजी मामला है। इसी उदाहरण को आगे बढाते हुये कुछ आगमिक उदाहरणों की भी समीक्षा कर लें।

शिकारी ने पक्षी को तीर मारा, वह घायल हुआ और मर गया। घायल होने तक शिकारी को चार क्रियायें लगी और मरने पर पांच। यदि पक्षी 6 महीने तक घायल रहा और उसके बाद मरा तो शिकारी को पारितापनिकी क्रिया लगी, प्राणातिपातिकी नहीं। शिकारी के साथ साथ धनुष की लकड़ी जिन जीवों के शरीर से बनी, धनुष की डोरी, तीर तथा उस क्रिया में प्रयुक्त प्रत्येक साधन जिस जीव के शरीर से बना, उस जीव को भी शिकारी की तरह चार या पांच क्रियाओं का भागी माना है। इससे आगे शिकारी के निशाने से पक्षी आहत, मृत होने के बाद तीर अपने आप नीचे आया, हवा आदि का सहयोग मिला और उससे कोई और जीव मर गया, उस जीव हिंसा का दायित्व अब शिकारी पर नहीं रहा है अतः उसे प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं लगी पर तीर के मूल निर्मापक शरीरधारी जीव को लगी और वायु आदि के जीवों को भी प्राणतिपातिकी क्रिया लगी। (भग. सू.रा. 5 उद्देशक 6/श.। उद्देशक 8) डाक्टर और मरीज की तरह यहां भी प्रश्न खड़ा होता है कि जब शिकारी के योग और कषायों के परिणामों से पक्षी घायल और मृत हुआ है तो कर्मबंध शिकारी का तो सम्भव

है पर बाण धनुष के असंख्य जीव जो संसार में न जाने कहां हैं उन्हें कर्मबंध कैसे होगा? शिकारी की भावना जब मारने की थी तब उसे हिंसा जन्य कर्म बंध न होकर 6 महीने बाद किस तरह होगा? कर्म सिद्धान्त और क्रिया सिद्धान्त में टकराव प्रतीत हो रहा है? इसका समाधान क्या है? समाधान यह है कि आगम के निहितार्थ को समझें और क्रिया व कर्म के अन्तर को स्पष्ट कर लें। आगमों में क्रिया शब्द का व्यवहार कई बार नैतिक जिम्मेदारी, न्यायिक जिम्मेदारी तथा परोक्ष सम्बद्धता के रूप में किया गया है न कि कर्मबंध के रूप में। भारतीय दंड संहिता में हत्याभियुक्त पर जो धारा लगाई जाती है उसी धारा के अन्तर्गत प्रयुक्त शस्त्र, वाहन, वस्त्र आदि भी पुलिस की हिरासत में आ जाते हैं अर्थात् उन पर हत्या से सम्बद्ध धारायें लागू कर दी जाती हैं तथा आक्रमण के 6 महीने बाद मरने वाले केस में धाराओं का परिवर्तन हो जाता है। उन्हीं न्यायायिक भावनाओं को आगमकरों ने क्रिया शब्द के द्वारा अभिव्यक्ति दी है। सामाजिक और नैतिक व्यवहार भी कई बार कह देता है कि चोर के साथ चोर की मां को पकड़ो। ये सब धारणाएं सामाजिक, नैतिक हो सकती हैं पर आध्यात्मिक नहीं। कर्म सिद्धान्त शुद्ध आध्यात्मिक सिद्धान्त है और आध्यात्मिकता का अर्थ ही है केवल अपनी अपनी व्यवस्था। पुत्र के आचरण से मां का कर्म बंध नहीं, मां के आचरण से पुत्र का नहीं। हां, आपस में सम्बद्ध होने से एक दूसरे के यश अपयश का अंश तो मिल सकता है पर कर्म का अंश नहीं।

संसार के सभी कार्य सचित्त अचित्त कितने ही सहायक कारणों के सहयोग से ही सम्पन्न होते हैं। अतः उस घटना के कर्त्ता के साथ उन सहायक कारणों का वर्णन करना जरूरी होता ही है। पर यदि वे कारण स्वयं सक्रिय न होकर केवल परिस्थिति वश जुड़े हैं तो उनको कर्मबंध से कैसे संयुक्त किया जा सकता है? क्रिया को कर्मबंध से जोड़ने का परिणाम ये निकला कि जैन धर्म का त्यागी वर्ग श्रावक श्राविकाओं को इस माध्यम से काफी त्याग प्रत्याख्यान की प्रेरणा देता है। पर यह

त्याग प्रत्याख्यान हास्यास्पद सीमा तक चले जाते हैं क्योंकि क्रिया शब्द को वे अति तक ले जाते हैं। साधु-साध्वी फरमाते हैं कि तुम 40-50 वनस्पतियों का आगार रख लो। शेष 24 लाख वनस्पतियों की हिंसा के पाप से बच जाओगे। यदि उन्हें खाते भी नहीं हो तो भी उनकी क्रिया (पाप) आपको लगती है। सुनने वाला हैरान कि जिस वस्तु का मैं प्रयोग कर ही नहीं रहा, उसकी सोच भी नहीं है फिर मैं पाप का भागी क्यों? इससे 'अकृतागम' दोष की उत्पत्ति प्रतीत होने लगती है। अधिक वस्तुओं के सेवन से बचना अच्छी बात है। उनका त्याग प्रत्याख्यान करना भी अच्छा है एवं वस्तु के प्रति आसक्ति का अभाव अच्छा है पर यह कहना कि अप्रयुक्त वस्तु भी कर्मबंध करवाती है– एक अतिरेक है। अप्रत्याख्यान क्रिया का भाव यही है कि जब तक आत्मा में आत्मदोषों, कषायों तथा पदार्थों की अकड़न को तोड़ने का प्रयास नहीं होगा, तब तक तुम कर्म बंध की तीव्रता को रोक नहीं सकते। जब तुम इन दोषों को जीतने का साहस जुटा लेते हो, तब तक आसक्ति जन्य कर्मबंध से भी मुक्त हो जाते हो। अतः प्रत्याख्यान का अर्थ है कि वस्तु के प्रति आसक्ति न हो। आसक्ति घटने पर श्रावक हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह की मर्यादा करता है और बढ़ते बढ़ते दिशाओं की सीमा बांध लेता है। भोग-उपभोग की हर वस्तु की सीमा बनाकर शेष वस्तुओं का प्रत्याख्यान कर लेता है। प्रत्याख्यान से बाहर की प्रत्येक वस्तु की भविष्य में सेवन की सम्भावना को रोक देता है। जिस वस्तु का त्याग किया जा रहा है भविष्य में उसके सेवन से, भविष्य में जो कर्मबंध होने की सम्भावना है उस पर प्रतिबंध लगाया जाता है। यदि उन वस्तुओं का वर्तमान में सेवन नहीं हो रहा तो उसके कारण वर्तमान में कर्मबन्धन भी नहीं हो रहा। पर नियम अभाव में भविष्यत् काल में कभी भी उसका सेवन किया जा सकता है और फिर तज्जन्य पाप से कर्मबंध हो सकता है। प्रत्याख्यान के द्वारा उस पाप की सम्भावना के द्वार बंद किये जाते हैं। आगम में भी भविष्यत्काल की सुरक्षा के लिए प्रत्याख्यान का विधान है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने अभी तक

मदिरा, मांस, दुराचार का नियम नहीं लिया उसे साधु साध्वी त्याग की प्रेरणा देते हैं और देनी भी चाहिये। परन्तु यह कहना अनुचित है कि जब तक वह प्रत्याख्यान नहीं करेगा तब तक वह मद्यपायी, मांस भक्षी या दुराचारी है। और इन दोषों के सेवन से जो कर्मबंध होता है उसका वह अब तक भागीदार रहा है। और आगे भी रहेगा जब तक वह प्रत्याख्यान न कर लेगा। यह कहना अधिक उपयुक्त रहेगा कि नियम न होने से भविष्य में कभी भी उस पाप का सेवन हो सकता है। अतः उस सम्भावना को टालने के लिये उन उन पापों का प्रत्याख्यान कर लेना चाहिये। पापों के सेवन से बंध होता है, असेवन से नहीं। प्रत्याख्यान की परम्परा बढ़ाते हुए साधक अपने खाने-पीने पहनने को काफ़ी सीमित कर लेता है। उस खान-पान परिधान की सीमा करने का प्रत्यक्ष लाभ ये होता है कि मन में निर्भारता और सन्तोष की अतिरिक्त उपलब्धि होती है। प्रत्याख्यान बढ़ते बढ़ते तप की श्रेणी में आने लगता है और तपस्या कर्म निर्जरा तथा संवर का मुख्य कारण है।

साधु या साध्वी द्रव्यों की संख्या या नामोल्लेख पूर्वक मर्यादा निर्धारित कर लेते हैं इसलिये प्रत्याख्यान से शेष समस्त द्रव्यों की इच्छा समाप्त हो जाती है। जीवन हल्का हो जाता है। यदि वह साधु-साध्वी उन पदार्थों की सीमा न बनाता तो भी असेव्यमान द्रव्यों से उसको कर्मबंध नहीं होता। हाँ, त्याग करने पर वह तप का आनन्द ले सकता है अतिरिक्त निर्जरा कर सकता है जो कि प्रत्याख्यान के अभाव में सम्भव नहीं थी। श्रावक के 14 नियम तथा वनस्पति आदि के प्रत्याख्यानों को भी इसी परिप्रेक्ष्य में लेना चाहिए।

जैन धर्म में भावों का जो महत्त्व रहा है उसकी घोर उपेक्षा क्रिया और कर्मबंध एक मानने से हो रही है। भगवती सूत्र में ही स्थान स्थान पर भावों की महत्ता प्रदर्शित की है। 18 शतक 8 उद्देशक में वर्णन है कि साधु-साध्वी यत्ना पूर्वक विहार कर रहा है। और कोई मुर्गा अचानक उसके पैर से मर गया तो क्या साधु को सांपरायिकी क्रिया लगती है?

उत्तर है— नहीं। क्यों? क्योंकि उसकी भावना मारने की नहीं है। शतक 1 उद्देशक 8 में लिखा है निशाना साधे हुये शिकारी का कोई पुरुष वध कर देता है, उसी प्रक्रिया में तीर अपने आप छूट जाता है और पक्षी मर जाता है तो पक्षी की हत्या का जिम्मेदार कौन? शिकारी या आगन्तुक पुरुष घातक? उत्तर है पक्षी का हत्यारा शिकारी है क्योंकि उसकी भावना मारने की ही थी। यहां भावों को अधिमान दिया गया है, न कि उस प्रक्रिया में जुड़े अन्य पुरुष या वस्तु को। पूर्व वर्णित शिकारी और तीर के प्रसंग में कहा था कि पक्षी को मार कर तीर नीचे गिर गया और उससे कोई प्राणी भी मर गया। उस अनभिप्रेत प्राणी की हिंसा के लिए शिकारी को भगवान् ने दोषी नहीं कहा क्योंकि उसकी उस विषय में भावना नहीं थी। परन्तु उसके भावना पक्ष की उपेक्षा भी हुई है। क्रिया के आशय को न समझने से।

जैसे कि, भगवती शतक 1 उद्देशक 8 में एक पाठ है कि वध की भावना से किसी ने किसी पर प्रहार किया, पुरुष घायल हो गया, यदि वह घायल 6 महीने बाद काल करता है तो वधक को प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं लगती, परितापनिकी क्रिया लगती है और यदि 6 महीने के भीतर ही मर जाता है तो प्राणातिपात की क्रिया लगती है। पहले केस में वह हत्यारा नहीं है, दूसरे में हत्यारा है। जैसे कि I.P.C. की धारा 302 घट कर 307 में बदल गई हो। इस पाठ पर टीकाकार अभयदेव सूरि को भी अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया व्यक्त करनी पड़ी है क्योंकि उन्हें लगा कि क्रियाओं की तब्दीली में वास्तविक घटना और मानसिक भावना की घोर उपेक्षा हो रही है। उनके शब्द हैं— **"एतच्च व्यवहारनयापेक्षया प्राणातिपात क्रिया व्यपदेशमात्रोपदर्शनार्थमुक्तम्। अन्यथा यदा कदापि अधिकृत प्रहार हेतुकं मरणं भवति तदा एव प्राणातिपात क्रियेति"** ये कथन व्यवहार नय (कानून) की अपेक्षा से कहा गया है नहीं तो मृत्यु कभी भी हो— चाहे 6 मास से पूर्व या बाद में प्राणातिपातिकी क्रिया ही रहेगी। आचार्य की टिप्पणी सूचित कर रही है कि राजकीय कानूनों को धर्म के क्षेत्र में बहुत अधिक अधिमान नहीं देना चाहिए।

ध्यान रहे कि मूल सूत्रकार यहां क्रिया शब्द के माध्यम से कानूनी दृष्टि को स्पष्ट कर रहे हैं अध्यात्म दृष्टि को नहीं। वस्तुतः क्रिया व्यवहार नय पर टिकी है और कर्मबंध निश्चय नय पर। निश्चय नय क्रिया काल को ही निष्ठाकाल मानता है जबकि व्यवहार नय निष्ठाकाल को क्रिया काल मानता है। निश्चय नय कहता है कि जिसने मारने के लक्ष्य से निशाना साध लिया है, उसने वध कर दिया है जबकि व्यवहार नय कहता है जब कोई मर गया तभी मारने की क्रिया मानी जायेगी उससे पहले नहीं।

भावना प्रधान जैन धर्म को हम किस प्रकार अभावना प्रधान बना रहे हैं उसका साक्षात्कार करें। अनन्त अनन्त भवों में जो फैक्ट्री, कारखाने, खेती, कर्मादान, सामान्य व्यवसाय किये उनका पाप आज भी आपको लग रहा है अतः उनका त्याग कर लो। मरने से पहले शरीर को वोसिरा दो, नहीं तो अगले भव में भी कर्मबंध होता रहेगा। आंखों का, लीवर का, गुर्दों का दान मत करो वर्ना इनको प्रयोग करने वाला जो गलत कार्य करेगा उसका पाप दानदाता को लगेगा। बस में बैठे हो घर का प्रत्याख्यान कर दो, उतरते हुए बस का प्रत्याख्यान कर दो, किसी दुकान पर खरीददारी करने जाओ तो प्रत्याख्यान खोल लो। खरीद कर चलो तो दुकान की हर चीज का प्रत्याख्यान कर दो वर्ना घर पर जाने पर भी दुकान की हर चीज का पाप आपको लगेगा– ऐसी ऐसी विचित्र प्ररूपणाएं आज 'क्रिया' से बचने के नाम पर हो रही हैं। एक सन्त गृहस्थ को मंगलपाठ सुनाने से इसलिए इन्कार कर देता है कि वह गृहस्थ विदेश जाकर पाप करेगा और मंगलपाठ सुनाने वाले सन्त को पाप लगेगा। मुनि दर्शन को जाने में जो आरम्भ समारम्भ होता है उसमें निमित्त मुनि को मानकर उसे भी पाप क्रिया का भागी बताया जाता है। जब मुनि का मन, वचन, काया से कोई सम्बन्ध ही नहीं तो अन्य कृत क्रियाओं का वह फलभागी क्यों होगा?

राजप्रश्नीय सूत्र में उल्लेख है कि चित्त ने केशी कुमार श्रमण को कहा कि मैं घोड़ों को परखने के बहाने राजा प्रदेशी को आपके पास लाऊंगा, आप उससे धैर्य पूर्वक वार्तालाप करना। उसने वैसा ही किया। केशी श्रमण ने निषेध नहीं किया कि ऐसा मत करना वर्ना तुझे और मुझे कर्मबंध होगा।

विशेष बात यह है कि क्रिया के व्याख्याकारों के अनुसार अन्य जीव कृत पाप तो अन्य को लगता है पर पुण्य और निर्जरा में उसका कोई हिस्सा नहीं होता। ऐसी द्विरूपता क्यों? जब सम्बद्ध व्यक्ति पाप फल भोक्ता हो सकता है, तो पुण्य-निर्जरा-भोक्ता भी होना चाहिये। सिद्धान्त उभयत्र समान है। किसी वृक्ष के पात्र बने, संयमोकरण बन कर मुनियों के काम आये, कुछ जीवों के शरीरों के कागज बने, आगम लिखे गये, ज्ञान वृद्धि हुई— क्या उन जीवों को उसका लाभ मिलेगा? कहा यही जाता है कि नहीं मिलेगा। पाप का अंश मिलता है, पुण्य का नहीं, क्योंकि उनमें पुण्य का भाव नहीं है। जब भाव को स्वीकार किया जाता है तो पाप में भाव की उपेक्षा क्यों की गई? चलो, गौतम स्वामी ने 1500 तापसों को सद्भाव पूर्वक बोध दिया। वे सब केवल ज्ञानी बन गये। क्या उनकी कर्म निर्जरा से गौतम की कर्म निर्जरा हो गई? उनके तो शुभ भाव भी थे। वस्तुतः किसी से सम्बन्ध होना मात्र कर्मबंध या निर्जरा का कारण नहीं हो सकता। अन्यथा समग्र विश्व में कौन किससे सम्बद्ध नहीं है। एक पायलट हवाई जहाज का एक्सीडेंट कर देता है और सैकड़ों आदमी मर जाते हैं तो कर्म बंध किसको होगा? जहाज के निर्माण में प्रयुक्त स्टील आदि धातु के जीवों को, पैट्रोल के जीवों को, हवाई जहाज जिस कम्पनी ने बनाया, खरीदा, बेचा उन मानवों को, हवाई जहाज के आविष्कारकों को, पायलट को, ट्रेनिंग देने वालों को, जहाज को सिग्नल देने वालों को? एक अंतहीन शृंखला खड़ी हो जाती है। उस कर्म बंध का कितना कितना हिस्सा किस किस को मिलेगा, कौन बांटेगा इत्यादि ढ़ेर सारे प्रश्न उपस्थित होंगे और उत्तर अनुत्तरित।

किसी ने सम्बन्धों की निरंतरता पर एक शेर लिखा है– **मग़स को बाग में जाने न देना, कि नाहक खून परवानों का होगा।** शायर कहता है कि मधुमक्खी को बाग में जाने से रोको, नहीं तो परवानों की हत्या हो जायेगी। कारण ये कि मधुमक्खी फूलों का पराग चूसेगी, शहद बनाएगी, उसके संग्रह के लिए छत्ता बनेगा, छत्ते में मोम का निर्माण होगा, मोम को शुद्ध करके मोमबत्ती बनेगी, वह किसी महफिल में जलेगी, उसकी जलती हुई लौ पर परवाने आयेंगे और जल कर मर जायेंगे। उनकी मृत्यु का मूल कारण कौन? मधुमक्खी का बाग में प्रवेश, अतः उसी पर पाबंदी लगे।

प्रक्रिया का चित्रण तो बहुत खूबसूरती से हुआ है और इसमें कोई शक भी नहीं है कि एक घटना के बाद अन्यान्य घटनायें बनेंगी ही बनेंगी। कुछ अनुकूल कुछ प्रतिकूल। कुछ अच्छा कुछ बुरा, एक अंतहीन सिलसिला शुरु होगा ही होगा। पर क्या पाप, पुण्य, कर्मबंध को हर जगह लागू किया जा सकेगा? परवाने के मरने से मधुमक्खी को कर्मबंध होना आगमानुसार तो लगता नहीं पर आज तक व्याख्यायित 'क्रिया' के अनुसार तो होना चाहिये। हां, मोमबत्ती जलने से परवाने मरेंगे तो कहीं उस रोशनी से कईयों को ठोकर लगने से बचाव भी होगा। कुछ छात्र अपना अध्ययन भी कर सकेंगे, कुछ योगी उसकी लौ पर अपना ध्यान भी केंद्रित कर सकेंगे– उसके फल की हिस्सेदारी क्या मधुमक्खी को मिल सकेगी?

जैन धर्म में प्रचारित किये जा रहे इस क्रियावाद की विस्तृत व्याख्या किसी तटस्थ व्यक्ति के सामने की जाये तो उसे पोपोबाई का साक्षात् दर्शन हो जायेगा।

एक बेहद सनकी राज्य व्यवस्था में चोरी के उद्देश्य से चोर सेठ के घर सेंध लगाता है। दीवार कच्ची थी गिर गई। चोर दब कर मर गया। उस मृत्यु का अपराधी कौन? इस सवाल पर इतना गहरा चिंतन किया गया जितना चिंतन क्रियावादियों द्वारा हो सकता है। चोर के परिवारजन

सेठ को मृत्यु का जिम्मेदार ठहराते हैं क्योंकि उसकी दीवार के नीचे चोर मरा है, अतः सेठ को फांसी हो। सेठ मिस्त्री को अपराधी सिद्ध कर देता है क्योंकि दीवार मिस्त्री ने बनाई है। मिस्त्री मसाला बनाने वाले को लपेटता है क्योंकि उसने मसाला पतला बना कर दिया। वह पानी डालने वाले मशकी के ऊपर जिम्मेदारी डालता है क्योंकि उसने पानी ज्यादा डाल दिया। उसने बराबर से गुजरती हुई युवती को दोष दिया जिसकी पायल की आवाज से मशकी का ध्यान भंग हुआ। यदि वह उस समय वहां न आती तो पानी उचित मात्रा में डालता। उसने सुनार को कसूरवार बताया क्योंकि जेवर तो सारे उसी ने बनाये थे। बेचारा सुनार। उसे कुछ आगे नहीं सूझा। अच्छा तो यही रहता कि वह सोने चांदी के पृथ्वी जीवों, अग्नि जीवों पर बात टाल देता। पर उसे कुछ ऐसा ध्यान ही नहीं आया। अतः फांसी के लिये अपनी गर्दन पेश कर दी। ये बात अलग है कि उसकी गर्दन इतनी पतली थी कि उसमें फांसी का फंदा फिट नहीं हो सका और वह बच गया। मगर एक बार पूरी शृंखला को देखें तो एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ी नजर आती है। ऐसे में घटना का अपराधी एक को मानें या सबको मानें। हो सकता है कानून अनेकों को लपेट ले पर जैन धर्म तो जब कर्मबंध का जिक्र करेगा तो जिस व्यक्ति के भाव हैं उसी को कर्मबंध हुआ मानेगा। हां, घटना चक्र से जुड़े कितने ही व्यक्तियों को क्रिया का भागी कह सकता है। क्रिया का अर्थ यही है कि प्रस्तुत प्रसंग में दृश्य अदृश्य हजारों लाखों जीव और वस्तुयें सम्मिलित हैं। कानूनी प्रावधान को ही क्रिया शब्द से अभिहित किया गया है, न कि कर्मबंध की कारण कषायों को।

एक सवाल उभरता है कि क्या हमारे किसी कार्य करने के बाद हम पर कोई जिम्मेदारी नहीं है? उदाहरणार्थ— किसी ने प्रमादवश बलगम डाल दिया। कुछ समय बाद मक्खियां फंस कर मर गई। क्या वह प्रमादी मक्खियों की हिंसा का जिम्मेदार नहीं है? उत्तर है— वह अपने प्रमाद का जिम्मेदार है। उसे उस प्रमाद से बचना चाहिये जो

किसी के लिए घातक सिद्ध हो। वह प्रमाद के समय कर्मबंध करता है। मक्खियों की मृत्यु के समय नहीं।

कालान्तरित, स्थानान्तरित तथा अन्य कृत कार्य से कर्म का बंध नहीं होता। यथा 1000 वर्ष पहले कुतुबुद्दीन ने कुतुब मीनार बनवाई। सैकड़ों हजारों व्यक्तियों ने अपने अपने स्तर पर निर्माण कार्य में योगदान दिया और उसके बाद भी सैकड़ों व्यक्ति उसकी सुरक्षा करते रहे। उस कुतुब मीनार से कूद कर कोई पुरुष आत्म हत्या कर लेता है तो उस हत्या के निमित्त से कुतुबुद्दीन सहित हजारों पुरुषों को कर्मबंध नहीं होता। मकान बनाते बनवाते जो कर्मबंध हो चुका सो हो चुका। ऐसे ही बलगम और मक्खी के बारे में सोचना चाहिए।

यदि साधु साध्वी अयतना पूर्वक मलोत्सर्ग करके 'वोसिरे वोसिरे' कह देता है तो वह उस अयतना जन्य कर्मबंध से बच नहीं सकता और यदि वह प्रत्येक कार्य यतना पूर्वक करता है और वोसिरामि-वोसिरामि नहीं भी कहता तो भी उसे कर्मबंध नहीं होता। व्यवहार निर्वाह के लिये कहने में कोई हानि नहीं। ध्यान रहे कि 'प्रत्याख्यान' शब्द सामान्य प्रतिज्ञा वाचक है और भविष्य में अनासेवन की प्रतिज्ञा का वाचक भी है। भग. सू. श. 8 उद्देशक 2 में प्रत्याख्यान के 49 भंगों की चर्चा करते वक्त आगमकार फरमाते हैं कि भूतकालीन पापनिवृत्ति को आलोचना, वर्नमान कालीन पापनिवृत्ति की प्रतिज्ञा को संवर तथा भविष्यत् कालीन पाप न करने की प्रतिज्ञा को प्रत्याख्यान कहा जाता है। यहां प्रत्याख्यान शब्द को तीनों कालों के नियमों के पृथक्-पृथक् नाम देकर भगवन्तों ने स्पष्ट किया है कि अतीत काल में जो कार्य किया जा चुका है कि उसको छोड़ने का अभिप्राय यह है— हम उसके लिये ग्लानिभाव रखें। उन कार्यों के प्रति हमारे मन में जो अनुमोदन का भाव है उसका त्याग करें अन्यथा अतीत की क्रियाओं को हम अन्यथा (अकृत) नहीं कर सकते। भविष्यत् काल के लिये हम प्रत्याख्यान करें ताकि जब कभी उनके सेवन का प्रसंग आ जाये तब उस प्रत्याख्यान के बल से बचाव

हो सके। वर्तमान काल में कर्मों के आगमन पर रुकावट लगाई जाती है उसी को संवर कहा जाता है क्योंकि कर्मों का आगमन तो वर्तमान में ही होता है और उनको रोकने के लिए संवर का सहारा लिया जाता है। भूत कालीन या भविष्यत् कालीन घटना से वर्तमान में कर्म नहीं आता और इसी कारण उनको रोकने का प्रसंग नहीं बनता।

किसी ने तर्क दिया कि किसी आदमी ने बिजली का मीटर प्रयोग नहीं किया पर उसका कनैक्शन काटने के लिए बिजली विभाग को पत्र भी नहीं लिखा। उसे भले ही बिजली खर्चने का बिल न देना पड़े पर लगे रहने का न्यूनतम बिल तो चुकाना ही पड़ेगा। इसी तरह जो जीव अपने पूर्व भव के, इस भव के शरीरों को वोसिराता नहीं है उसे अल्पतम कर्मबंध तो होगा ही। जो उन्हें वोसिरा देता है उसे अल्पतम कर्मबंध भी नहीं होता।

निवेदन है कि सरकारी कायदे कानूनों में ऐसा हो सकता है पर आत्मा की व्यवस्था भिन्न होती है। सरकार निर्धारण कर देती है कि न्यूनतम बिल लिया जाये या नहीं और लिया भी जाये तो उस की प्रतिशत दर कितनी रखी जाये। कई सरकारें तो बिजली निःशुल्क भी वितरित करती हैं उनको अप्रयुक्त बिजली का अल्पतम बिल तो दूर, प्रयुक्त बिजली का भी बिल नहीं चुकाना पड़ता। क्या उस उपमा को कर्मबंध पर भी लागू किया जा सकेगा। सरकारी नियमावली तो समय समय पर बदलती रहती हैं पर अध्यात्म के नियम तो शाश्वत होते हैं। लौकिक उपमाओं का प्रयोग एकांश में तो किया जाना चाहिये पर सर्वांश में नहीं। यदि आत्मा और कर्मबंध को उपमा ही देनी हो तो उड़ते पक्षी की उपमा देनी उपयुक्त है। जिस आकाश क्षेत्र और जिस काल में पक्षी का शरीर नहीं होता वहां उस पक्षी का कोई चिन्ह भी उपलब्ध नहीं होता। तथा जिस आकाश क्षेत्र और काल में वह उड़ रहा है, वहीं उसको देखा जा सकता है। ऐसे ही जिसकाल, जिस स्थान में आत्मा है उसी स्थान में बंध संभव है अन्यत्र अन्यथा नहीं।

जैसे वर्तमान शरीर पर हमारा ममत्व है, अधिकार है, पोषणार्थ आहारदान आदि क्रियायें हैं अतः उससे निवृत्ति लेना 'वोसिरामि' कहना बिलकुल सही है पर पिछले शरीर जिनकी हमें न स्मृति है, न समझ है कि वे कहां-कहां हैं। उनका अस्तित्व है भी या नहीं। उन शरीरों के त्याग की बात आगम मान्य नहीं है। भगवती के प्रारम्भ में लिखा है कि इस भव में अर्जित ज्ञान दर्शन तो अगले भव में जा सकते हैं पर चरित्र, तप और संयम नहीं क्योंकि वर्तमान शरीर ही संयम, तप चरित्र का आधार होता है। आत्मा अगले भव में जाते समय चरित्र को नहीं ले जा सकती तो पिछले अनन्त भवों में चरित्र कैसे जा सकता है। आगम में यह भी कहीं उल्लेख नहीं है कि पिछले भवों से आत्मा को मिलने वाले कर्मों का अनुपात कितना होता है।

तर्कशील बंधु से एक प्रतितर्क यह भी है कि भग. सू. श. 5 उद्दे. 6 में कहा है कि तीर धनुष के जीवों को प्राणातिपात की क्रिया लगती है। वहां प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी किसी को छूट नहीं है तथा शिकारी ने जिस लक्ष्य के लिये तीर छोड़ा उसको पूरा कर के बाद में तीर के कारण कोई और जीव भी मर गया, उस जीव के वध के लिये शिकारी को प्राणातिपातिकी क्रिया नहीं लगी। उसने तो प्रत्याख्यान किया ही नहीं फिर वह कैसे बच गया? उत्तर यही है कि उसका इरादा नहीं था अतः उस क्रिया की (कानूनी धारा की) गिरफ्त से बच गया। जब वह प्रत्याख्यान किये बिना भी बच सकता है, फिर अनन्तान्त भवों के छोड़े शरीर, मकान, दुकान, व्यवसाय के चक्र से जीव क्यों नहीं बचेगा? ये भी कहीं वर्णन नहीं है कि वह कनैक्शन कब तक, कितने जीवों तक जुड़ेगा क्योंकि किसी-2 एक ही घटना में असंख्यात अनंत जीव भी जुड़े होते हैं। जैसे कि पैनीसिलीन (एक इंजैक्शन) के निर्माण में फंगस का प्रयोग होता है। फंगस निगोद जीवों को कहते हैं। निगोद में अनन्त जीव होते हैं। इस तरह एक इंजैक्शन के निर्माण में अनन्त जीवों के शरीर काम आये। इस इंजैक्शन के कारण जो मनुष्य जिये या मरे उनके पुण्य और पाप को अनन्त जीवों में किस अनुपात में

विभाजित किया जायेगा? और किस विधि से उन तक पहुंचेगा तथा कितने काल तक पहुंचता रहेगा? इत्यादि प्रश्न अनुत्तरित ही रहेंगे। हमें क्रिया शब्द को ही पकड़ कर नहीं चलना चाहिये अपितु उसके पीछे आशय को भी पकड़ना है। जैसे कोई व्यक्ति संसार से जा रहा है। उसे कहें कि उसका परिवार, संसार, शरीर किसी से मोह शेष न रह जाये न जाने कब वह मोह जागृत होकर परेशान कर दें। अतः सावधानी से हर वस्तु से सम्बन्ध तोड़ लें। अन्यथा तामली तापस जैसे स्थिति हो सकती है। उसने अपनी विधि से संथारा किया। बली चंचा के देवों ने निदान की प्रेरणा दी। उसे ठुकराया, दूसरे देवलोक में गया पर अपने परित्यक्त शरीर की आशातना देखी तो कुपित हो गया। ऐसा मोहभाव अगले भव में भी परेशान कर सकता है। यह समझना तो लाभदायक है पर क्रिया के नाम से डराना अनुचित है। यह दृष्टि कोण भी वाजिब है कि एक प्राणी के वध के साथ कुछ अन्य जीव जो उन पर आश्रित होते हैं उनका वध भी हो जाता है या हो सकता है। अतः एक जीव का वध भी हमें टालना है भग. सू. श. 9 उद्देशक 34 हमें संकेत करता है कि एक ऋषि का वध अनंत जीवों की जिंदगी को खतरे में डाल देता है क्योंकि मुनि अनन्त जीवों का रक्षक होता है। इसका अभिप्राय ये नहीं है कि एक मुनि के वध के समय जो योग और कषाय परिणामों के फलस्वरूप कर्मबंध किसी प्राणी ने किया है उस प्राणी को बाद में भी जब उसके तथाविध परिणाम नहीं रहेंगे लेकिन अन्य जीव जब मरेंगे तब भी उसे कर्मबंध होता रहेगा।

क्रिया के सम्बंध में कुछ और भी प्रसंग मननीय हैं– जैसे एक व्यापारी ने खरीददार के साथ सौदा कर लिया पर डिलीवरी नहीं दी तब तक व्यापारी को अधिक क्रिया लगती है खरीददार को अल्प क्योंकि पहले का कब्जा, जिम्मेदारी, चिंता तथा जोखिम ज्यादा है। खरीददार से पैसा ले लिया; सामान अभी नहीं दिया तो उसकी क्रिया कम है क्योंकि उसको फिक्र कम है। इस 'क्रिया' से मतलब हम जिम्मेदारी ले सकते हैं जिसके पास अधिक चिंताजनक स्थिति है उसकी क्रिया अधिक है

और जिसे नुकसान की चिंता कम है उसकी क्रिया भी कम है। क्रिया शब्द किस प्रकार अपना अर्थ बदलता रहता है। भग. सू. 16 उद्दे. 3 में ही स्पष्ट हो जाता है। एक मुनि को उपचार करवाने का नियम है और उसको बवासीर के मस्से परेशान कर रहे हैं। वह किसी उपवन में ध्यानस्थ हैं। कोई वैद्य ध्यानस्थ अवस्था में ही मुनि के मस्सों की शल्य चिकित्सा कर देता है तो मुनि को क्रिया नहीं लगती। वैद्य को क्रिया लगती है। यहां स्पष्ट है कि उस शल्य क्रिया का सारा अधिकार वैद्य का है, मुनि का नहीं। मुनि ने करवाई नहीं वैद्य ने की है। यहां यूं नहीं कह सकते कि वैद्य को क्रिया लगी अर्थात् पाप का बंध हुआ अपितु उसे तो महान् पुण्य का बंध हुआ है जो उसने बिना कहे ही रुग्ण मुनि का उपचार किया।

जैन कथा साहित्य में इस तरह के कई उदाहरण आते हैं— ऋषभदेव के पूर्व भव में जीवानन्द ने सन्त को कुष्ठ रोग से मुक्त किया। खरक वैद्य ने भगवान् महावीर के कानों में से कीले निकाले। सुभद्रा सती ने मुनि की आंख से तिनका निकाला। इस तरह की सेवा को तो जिन शासन में महान् पुण्यकारक तथा निर्जरा कारक गिना गया है। अतः वैद्य को लगने वाली क्रिया का अर्थ हमें सेवा करना चाहियें, न कि कर्मबंध।

इस तमाम चर्चा का उद्देश्य इतना है कि हम क्रिया शब्द की व्यापकता को पकड़ें। केवल इसे कर्मबंध से जोड़कर ऐसी प्ररूपणायें न करें जो जैन धर्म के मूल सिद्धान्त से मेल न खाती हों और जनमानस भी जिसे समझने में कठिनाई महसूस करता हो।

इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि मनुष्य अविरति, प्रमाद, असावधानी को ही अपना ध्येय बना लें। विरति संवर है, अविरति आस्रव है। विरति जितनी-जितनी बढ़ेगी, उतने-उतने कर्म द्वार बंद होते जायेंगे। अतः अविरति से विरति की ओर, प्रमाद से अप्रमाद की ओर, अयतना से यतना की ओर बढ़ना उत्तम है। भोग लिप्सा को व संग्रह

लिप्सा को न्यून करना आवश्यक है। ज्ञान पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करना, प्रत्याख्यान का सम्यक् निर्वहन करना परमावश्यक है। बस हमें अपने सिद्धांत से दूर नहीं जाना है।

प्रथम जैन सिद्धान्त यह है– अपनी क्रिया ही अपना कर्मबंध करवाती है, न कि अन्य की क्रिया। दूसरा सिद्धान्त ये है कि कषायों की मौजूदगी में कर्मबंध होता है– कषायों की अभाव में नहीं। अतः स्वकृत क्रिया-परकृत क्रिया तथा साम्प्रायिक-ईरियापथिक क्रिया इस युगल को दृष्टि में रखते हुये ही अन्य क्रियाओं की व्याख्या करें तभी हम अपने सिद्धान्त के साथ न्याय कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

पुनः निवेदन है कि इस विवेचन में कुछ नयापन भले हो पर आगम विरोध तथा सिद्धान्त विरोध नहीं है।

दया-पौषध

जैन साधना पद्धति में त्याग-प्रत्याख्यान का विशेष महत्त्व रहा है। यदि कोई व्यक्ति सर्वत्याग करने का साहस कर सकता है तो वह महाव्रतों को अंगीकार करके मुनि जीवन में प्रवेश करता है। महाव्रतों का पालन कितना ही कठिन क्यों न हो, पर उनके स्वरूप के संबंध में कोई संदिग्धता नहीं होती। महाव्रतों में कोई आगार नहीं होता, करण और योगों की विभिन्नताएं नहीं होती, लघु या बड़ी आयु का विमर्श-विकल्प नहीं होता तथा सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त पालनीय होने से समयावधि की उलझन नहीं होती जबकि श्रावक के बारह व्रतों में कई तरह के आगार संभव हैं। करण, योगों के अलग-अलग मापदण्ड निर्धारित किये जा सकते हैं। श्रावक के व्रतों को सोने का व्यापार तथा महाव्रतों को मोती का व्यापार कहा जाता है। मोती एक अखण्ड ही खरीदा-बेचा जायेगा जबकि सोने के सैकड़ों रूप हो सकते हैं। पालन की दृष्टि से श्रावक के व्रत सरल हैं पर समझने की अपेक्षा से काफी जटिल हैं। गृहस्थ जीवन की जटिलताएं, विचित्रताएं व्रतों को भी जटिल और विचित्र बना ही देती हैं। श्रावक के बारह व्रतों में भी मूलगुण रूप से ग्रहण किये गये अणुव्रतों का स्वरूप एक समान नहीं मिलता। आगमों में जो उत्तर गुणों का स्वरूप रहा होगा, उसमें और आज के युग में प्रचलित स्वरूप में काफी अन्तर आ चुका है। समय परिवर्तन के साथ स्वरूप परिवर्तन अपरिहार्य है। जैन आगमों में मुख्यतः तो मुनि जीवन को ही वर्णित किया है पर उपासक दशांग तथा आवश्यक सूत्र में श्रावक जीवन से संबंधित प्रचुर सामग्री मिलती है। श्रावक आवश्यक सूत्र जो वर्तमान में प्रचलित है, अधिक पुराना नहीं है। इसकी आधी से ज्यादा भाषा तो राजस्थानी हिन्दी का मिश्रण ही है और जो प्राकृत के पाठ भी हैं वे भी (अधिकांशतः) साधु प्रतिक्रमण से ही उद्धृत किये गये हैं, कुछ पाठ साधु प्रतिक्रमण से लेकर स्वरूप परिवर्तन के साथ श्रावकोचित बनाए

हुये लगते हैं। श्रावक के लिये प्रतिक्रमण की अनिवार्यता-आवश्यकता भी उत्तरकालीन अनुयोग द्वार सूत्र के अलावा कहीं भी निर्दिष्ट नहीं की गई। इसलिए श्रावक जीवन के वास्तविक स्वरूप को आगमिक दृष्टिकोण से समझने के लिये हमारे पास उपासक दशांग ही एक मात्र आधार रह जाता है। उपासक दशांग के प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रावक व्रतों को ग्रहण करता है। उस प्रसंग के आधार पर व्रतों का स्वरूप निर्धारित हुआ है परन्तु वहां चार शिक्षा व्रतों के संबंध में यह वर्णन नहीं आता कि आनन्द श्रावक ने ये व्रत किस रूप में लिए। हमें केवल उन व्रतों के अतिचारों के आधार पर उन व्रतों का स्वरूप अनुमानित करना पड़ता है।

यद्यपि पश्चाद्वर्ती ग्रथों में श्रावक जीवन से जुड़ी काफी बातें मिलती हैं, पर उनमें अपनी-अपनी परम्पराओं का रंग आ जाता है। दिगम्बर ग्रंथों में दिगम्बरत्व पोषक, श्वेताम्बर ग्रंथों में अपनी-अपनी धारणाओं के पोषक पाठ मिलते हैं। स्थानक वासी परम्परा को कुछ छंटनी करनी पड़ती है। उपयोगी रख कर शेष पर गजनिमीलिका अपना ली जाती है। कुल मिलाकर निष्कर्ष ये निकलता है कि शिक्षा व्रतों का सारा ढांचा विभिन्नताओं से ओत प्रोत है। इसी कारण इन व्रतों के ऊपर आज भी नए-नए प्रयोग किये जा रहे हैं, नये-नये सांचों में ढ़ाल कर इन्हें पेश किया जा रहा है। यद्यपि जनतंत्रात्मक समाज में ऐसा होना अनुचित नहीं है, पर एक विषय में भिन्न-भिन्न प्ररूपणाओं से सामान्य श्रद्धालु भ्रान्तिग्रस्त हो जाता है और उस समय तो और अधिक जब एक परम्परा अन्य परम्परा को अशुद्ध बताने लगती है। अतः निर्विवाद रूप से कुछ विचार कण प्रस्तुत करने का भाव है।

पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। एक सामायिक का काल मान एक मुहूर्त होता है। प्राचीन समय में सामान्य श्रावक प्रतिदिन एक सामायिक से ही अपने श्रावक जीवन को कृतार्थ करता रहा होगा। 5-5, 10-10, 20-20 सामायिकों का एक साथ प्रत्याख्यान और आराधना संभवतः

बहुत प्राचीन परम्परा नहीं रही होगी। यदि पूर्ण शुद्धि एवं तन्मयता के साथ एक सामायिक भी सम्पन्न हो जाए तो अपर्याप्त नहीं रहेगी।

दूसरा शिक्षाव्रत है— देशावकाशिक, जिसका व्रत क्रमांक दसवां है। इसका मौलिक स्वरूप क्या रहा होगा, निर्णय कर पाना कठिन है फिर भी शब्दों के विश्लेषण से तथा इस व्रत के पांच अतिचारों के चिंतन से एक विचार बना है कि इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक यदि संभव हो तो कुछ दिनों के लिये अपने व्यवसाय से, गृहस्थोचित दायित्वों से देश (आंशिक) अवकाश (छुट्टी) लेकर एकान्त में धर्माराधना करे। उसके भोजन वस्त्रादि की व्यवस्था अन्य व्यक्ति संभाले। वह तो Camp Life शिविर जीवन शैली में बाह्य सम्पर्कों से सर्वथा पृथक् रहे और अध्यात्म के उच्चतर सोपानों पर चढ़ने का प्रयास करे। जिस प्रकार शिविरों में अभ्यास करने वाले व्यक्ति स्वेच्छा से कोई वस्तु मंगवा-भिजवा नहीं सकते, औरों से सम्पर्क बनाने के लिए आवाज नहीं दे सकते, संकेत नहीं कर सकते, किसी वस्तु का प्रक्षेपण नहीं कर सकते जैसे विपश्यना के शिविर इसका समुचित उदाहरण हैं, इसी प्रकार प्राचीन काल में दसवें व्रत के अन्तर्गत श्रावक को कुछ दिनों का अवकाश लेकर गहन धर्माभ्यास करना होता था। इस व्रत के अन्तर्गत आहारादि पर कोई प्रतिबंध नहीं होता, केवल सीमित क्षेत्र में रहना, मौन रखना आदि ही इसके मुख्य अंग होते हैं। ऐसा स्वरूप-चिन्तन शब्दाधारित विश्लेषण से फलित हुआ है।

परन्तु जैन इतिहास में जैसे-2 ध्यान की प्रक्रिया समाप्त होने लगी, वैसे-2 इस व्रत की परिपालना में भी विविधता का प्रवेश हो गया। वर्तमान में यह व्रत छठे दिशा-परिणाम और सातवें भोगोपभोग परिमाण व्रत का दैनिक संस्करण बनकर उभरा तथा इसके तीन मान्य प्रचलित रूप दिखाई देते हैं— 1. दया 2. संवर 3. चौदह नियम। जब मूल शेष नहीं रहता तब उसके रूपांतरण करने की सबको छूट मिल ही जाती है।

दया का प्रारंभिक रूप तो वही था जो मूलतः शिविर जीवन का था। अन्तर था केवल समय की अवधि के संबंध में। शिविर जीवन में सात-आठ दिन का अवकाश अपेक्षित होता है जबकि दयादि में एक अहोरात्र का। दूसरा अन्तर उस काल के सदुपयोग के संबंध में है। पहले 7-8 दिनों में ध्यान मौन का सघन अभ्यास किया जाता था। दया में केवल सामायिक-स्वाध्याय-धर्म चर्चाओं की मुख्यता हो गई। दया का मान्यताप्राप्त काल 24 घण्टे का रहा। जो श्रावक-श्राविका अपने घरेलू और व्यवसायिक दायित्वों से बच नहीं सकते, उन्हें दसवें व्रत में उपस्थित रहने के लिये दूसरा विकल्प दिया कि रात भर के लिए धर्मस्थान में रहकर धर्माराधना करें। यह संवर बन गया, यद्यपि संवर का अधिकांश काल तो निद्रा में ही व्यतीत हो रहा है, पर भावुक हृदयों के लिए ये संतुष्टि पर्याप्त है कि आरम्भ-समारम्भ की क्रियाओं से पंखे, बिजली, ए.सी. के प्रयोग से, गद्‌देनुमा पलंगों से निवृत्ति तो ली ही है। यद्यपि देशावकाश के मूल ध्येय से काफी दूरी हो गई। लेकिन गृहस्थ जीवन की मजबूरियां हैं। कुछ श्रावक रात्रि में भी गृह त्याग करने में असमर्थ होते हैं, लेकिन वे दसवें व्रत के लाभ से वंचित नहीं रहना चाहते, उन्हें हमारे पूर्वजों ने तीसरा विकल्प दिया हैं– वह है चौदह नियमों का। इस व्यवस्था में श्रावकों ने कुछ शिथिलता तथा कुछ कठोरता अपना ली। मूल भावना में तो शिथिलता हो गई पर दिशा व्रत के विस्तृत नियमों को एक दिन के लिए अधिक सीमित रूप में निर्धारित कर लिया। इस तरह दसवें व्रत के ये भग्नावशेष हमारे पास आज तक बचे हैं।

11वें पौषध व्रत में श्रावक के लिए एक दो या तीन दिन के लिए पौषधशाला में व्यापार-शृंगार आहार-आरंभ-समारम्भ सुख-सुविधा सब छोड़कर पूर्णतः निवृत्त हो जाना अभिहित था। आहार के दीर्घकालीन त्याग को सामान्य श्रावक के लिए निभाना कठिन होता है अतः इस व्रत की अवधि अल्प रखी गई पर प्रगाढ़ता ज्यादा डाल दी। अधिकतर तो पौषध एक अहोरात्र का ही विहित है पर कहीं-कहीं श्रावकों ने दो या तीन दिन के भी पौषध किए हैं। आहार का वर्जन होने से पौषध

की परम्परा कई दिनों तक खींचनी कठिन हो जाती है। अतः तीन दिन भी काफी हैं।

वर्तमान समय में कुछ व्यवस्थाएं अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार भी बदली और ढ़ाली जा रही है, अतः कुछ ऊहापोह होता है। कुछ चिन्तनीय विषय निम्न हैः

1. आठ प्रहर (कहीं-कहीं बारह प्रहर) का पौषध यदि चौविहार हो तो वह पौषध है, इस बात पर सभी सहमत हैं।

2. आठ प्रहर के पौषध में यदि जल का आगार रख लिया जाता है तो वह पौषध की श्रेणी में आता है या नहीं, इसमें मतभेद है। कुछ का मानना है कि वह पौषध न होकर संवर है। कुछ उसे दसवां पौषध नाम भी देते हैं। इस संदर्भ में अपनी परम्परा रही है कि यदि 8 प्रहर तक निरन्तर धर्माराधना होती है तो उसे प्रतिपूर्ण पौषध कहा जाता है। यदि पानी लिया जाए तो 'तिविहार प्रतिपूर्ण', यदि पानी नहीं लिया जाए तो 'चउविहार प्रतिपूर्ण पौषध'। इसके पीछे कारण ये है कि पूर्वकाल में उपवास और पौषध दोनों ही अनुष्ठान चउविहार होते थे। कालक्रम से पानी की आवश्यकता पड़ी। (संथारा भी तिविहार हो सकता है) पानी लेने पर भी उपवास यदि उपवास रह सकता है तो प्रतिपूर्ण पौषध भी प्रतिपूर्ण पौषध ही रहना चाहिए। उसकी अन्य संज्ञा नहीं होनी चाहिए, न ही अल्प मूल्यांकन। यद्यपि 'दसवां पौषध' शब्द भी इस व्यवस्था के लिए प्रयुक्त किया है, पर इन दो शब्दों का सामंजस्य नहीं बनता। दसवां है तो पौषध नहीं और यदि पौषध है तो दसवां नहीं। पौषध का क्रमांक ग्यारहवां है तथा दसवें क्रम पर देशावकाशिक है। अतः इस पौषध को हमें 'तिव्विहार प्रतिपूर्ण पौषध' कहना उचित रहेगा।

3. पांच या चार प्रहर के पौषध को 'अप्रतिपूर्ण पौषध' कहना चाहिए। पांच या चार प्रहर में ज्यादा अंतर नहीं माना जाना चाहिए। यदि सूर्यास्त से पूर्व पच्चखाण ले लिया गया है और चौबीस घण्टे के लिए आहार का त्याग है तो वह पौषध की श्रेणी में ही रखा जाएगा।

पर काल की अपूर्णता के कारण 'अप्रतिपूर्ण' विशेषण से मंडित किया जाएगा। इस पौषध को भी तिविहार, चउविहार दोनों तरह किया जा सकता है।

4. दया के लिए 24 घण्टे की आराधना का प्रावधान रखा जाना चाहिए तथा आहार दो बार तक सीमित रखा जाए तो अच्छा है। क्योंकि किसी भी रूढ़ शब्द के साथ अधिक खिलवाड़ करने से वह विद्रूप हो जाता है। और फिर मनमाने ढंग से उसका प्रयोग शुरु हो जाता है। इसलिए 12 घण्टे, 9 घण्टे या 11 सामायिकों की दया को मान्यता नहीं देनी चाहिए। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि दया शब्द के साथ पौषध का प्रयोग न किया जाए। इससे दोनों की सीमाएं सुरक्षित रहती हैं। अन्यथा 'दया पौषध' शब्द का व्यवहार नई समस्याएं खड़ी कर सकता है। यह सत्य है कि भगवती सूत्र शतक 12 उद्देशक एक में 'शंख' श्रावक के प्रसंग में खाते-पीते हुए पौषध करने का एक बार उल्लेख हुआ है। परन्तु वह आपवादिक माना जाए। वहां खाते पीते पौषध का अर्थ 11वें पौषध व्रत की पालना नहीं है अपितु आत्म गुणों की पोषण करने वाली कोई भी धर्मक्रिया वहां पौषध शब्द से निरूपित की है। पौषध शब्द के इतिहास में जाएं तो प्राचीन काल में इसका अर्थ 'छुट्टी मनाना' होता था। गृहस्थ जन अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि दिनों में कामधंधों से अवकाश लेते थे और अपनी-2 रुचि अनुसार उन दिनों को बिताते थे। कुछ आमोद प्रमोद में, कुछ सत्संग गोष्ठी करके, कुछ तपस्या में लगकर उस दिन को गुजारते थे। सभी के लिए 'पौषध' करना कहलाता था। तो पौषध का अर्थ था To Celebrate a Holiday. जैन परम्परा में भी कुछ लोग खा-पीकर तथा धर्मगोष्ठी करके इसे मनाते थे पर अंतिम रूप में मान्यता मिली "तपस्या प्रधान अवकाश यापन" को पौषध कहने की। बौद्ध धर्म में भी 'उपवसथ या उपोसथ' की परम्परा रही है। धर्म या गुरु की उपासना ही उपवसथ या उपोसथ कहलाती है। वही भाव जैनों के पोसह (पौषध) में समाहित कर दिया है। लेकिन 11वें व्रत में पौषध का जो विधान है, उसके लिए कुछ शर्तें लगाई गई

हैं, यथा-ब्रह्मचर्य का पालन (नवगुप्ति सहित) मणि सुवर्ण का त्याग, मालावर्णक विलेपन का परहेज, शस्त्र मुसलादि जन्य आरंभ-समारंभ से बचाव, एकांत-एकाकी रहना तथा आहार का त्याग। प्रारंभ से लेकर आज तक निरपवाद रूप से पौषध में आहारादि का वर्जन अनिवार्य रहा है। अतः हमारा कर्तव्य है कि जिस अनुष्ठान में आहार ग्रहण हो उसके लिए पौषध शब्द का व्यवहार न करें।

भिक्षु दया निरारंभता का विशिष्ट रूप बना है। अपने निमित से भोजनादि बनाने का झंझट समाप्त हो जाता है। पर आगमों में श्रमणभूत प्रतिमा धारक श्रावक के अलावा कहीं भी श्रावक के लिए भिक्षावृत्ति का प्रावधान नहीं है, इसलिए दया में आहार की शुद्धि के लिए भिक्षा की परम्परा भी चिन्तनीय है। दूसरी बात जैनेतर समाज की है। अजैन लोग भिक्षा के लिए जाने वाले को जब अगले रोज व्यापारादि में संलग्न, गृद्ध व कपटाचरण करते देखेंगे तो उन्हें मुनि वेष से ग्लानि हो सकती है और उन्हें ये भी अनुभव हो सकता है कि ये वेष परिवर्तनीय है, इसे कभी अपना लो, कभी छोड़ दो। इसके साथ सबसे बड़ी हानि ये हो सकती है कि गृहस्थ ने लोक संपर्क से हटकर पूर्ण एकान्त और मौनपूर्वक आत्म चिंतन के लिए समय निकाला था, वह भिक्षाचर्या की व्यस्तता में लुप्त हो जाता है। इस तरह भिक्षु दया के सकारात्मक, नकारात्मक पहलू दोनों ही प्रतीत होते हैं।

5. बारह घण्टे या इससे कम समय के लिए की गई धर्माराधना को संवर या सामायिक नाम दिया जाए तो अधिक शालीनता रहेगी। यदि उस दौरान निद्रा का आगार है तो संवर कहा जाए और निद्रा का आगार नहीं है तो सामायिक। व्याख्यान वाचस्पति गुरुदेव श्री मदनलाल जी म. द्वारा लिखित अपूर्ण आत्मकथा से एक ऐतिहासिक तथ्य अधिगत होता है कि उनके बामनौली चातुर्मास में इक्कीस रंगी सामायिकें हुई। जिन श्रावक-श्राविकाओं ने 9, 10 या ऊपर 21 तक सामायिकें की, उनके अनुष्ठान को सामायिक के अन्तर्गत ही गिना

गया। 24 घण्टे की पूर्णावधि न होने से उनकी दया नहीं मानी गई, न उसे अप्रतिपूर्ण पौषध का नाम दिया। दयाएं अलग हुई। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि 9, 10 या अधिक सामायिकों के संयुक्त पच्चखान का 'दया' नाम देना एक नूतन उद्‌भावना है। इस प्रकार नई धारणाएं कोई अर्थ तो सिद्ध करती नहीं, बल्कि चर्चाओं को जन्म जरूर दे देती हैं।

कुछ छुटपुट समस्याएं श्रावक वर्ग के सामने और हैं। एक सामायिक के प्रत्याख्यान के बाद अधिक समय हो जाए तो अगली सामायिक के लिए क्या करना? सामायिक के पहले संवर करना या नहीं? पौषध से पहले सामायिक का प्रत्याख्यान लेना या नहीं? ये समस्याएं आगमों में तो चर्चित हुई नहीं, अतः इसका समाधान हर व्यक्ति अपनी-अपनी समझ और परिस्थिति के अनुसार दे देता है। वस्तुतः ये सभी धर्म क्रियाएं हैं तो स्वयं में स्वतंत्र, पर श्रद्धालु वर्ग की इच्छा होती है कि एक के साथ औरों का भी लाभ उठावें। इस लाभार्जन की मनोवृत्ति से ही धर्म क्रियाएं भावात्मक कम, द्रव्यात्मक ज्यादा हो जाती हैं। पर समस्याएं ही समस्याएं हैं, इनका उत्तर अपनी परम्परा में जो मान्य रहा है वह निम्न प्रकार से है–

1. पहली सामायिक का प्रत्याख्यान ग्रहण करते हुए मुहूर्त एक के साथ 'उपरांत काल का संवर' ये शब्द भी बोलने चाहिए। फिर एक सामायिक से ऊपर 10, 20, 30, 40 मिनट ऊपर होने पर भी दूसरी सामायिक का प्रत्याख्यान लिया जा सकता है और 96 मिनट में दो सामायिकों का पूर्ण होना माना जाता है।

2. पहली सामायिक का समय पूरा होते ही दूसरी सामायिक लेनी हो, तो पहली को पारने की आवश्यकता नहीं है।

3. सामायिक का प्रत्याख्यान स्वयं ही करना श्रेष्ठ है। यदि पाठ याद नहीं है तो अन्य से भी लिया जा सकता है।

4. पौषध यदि प्रतिपूर्ण है तथा चउविहार हो तो सामायिक या संवर पहले और बाद में पच्चखने की आवश्यकता नहीं है। यदि अप्रतिपूर्ण या तिव्विहार हो तो कुछ सामायिकों का प्रत्याख्यान किया जा सकता है केवल जलग्रहण व निद्रा से बचने के लिए।

5. दया या संवर ग्रहण करने के बाद भी सामायिक पच्चखी जा सकती हैं ध्येय यही है कि सामायिक के व्याज से हमें आहार और निद्रा से बचना है। सामायिक, संवर, दया, पौषध सभी अनुष्ठानों में सावद्य योग का प्रत्याख्यान होता है, अन्तर थोड़ा-थोड़ा सा ही होता है। किसी में काल अधिक होता है, किसी में कम, किसी में निद्रा तथा भोजन का आगार होता है, किसी में नहीं। इन्हीं छोटे छोटे अन्तरों को सावधानी से समझना चाहिए।

हमारे स्थानकवासी समाज में अच्छी धर्म जागृति आ रही है। पर मूल गुणों के प्रति उदासीनता तथा उत्तर गुणों के प्रति उत्सुकता के कारण श्रावक जीवन में गहरा और ठोस परिवर्तन नहीं हो रहा। मूल गुणों के अभाव में उत्तर गुण निरर्थक तो नहीं हैं पर अधिक सार्थक भी नहीं हैं। श्रावक प्रतिक्रमण इस बात का साक्षी है कि शिक्षाव्रत केवल यथावसर, यथाशक्ति, यथासंभव करने के लिए है। सामायिक का अवसर आए सामायिक करुं, पौषध का अवसर आए पौषध करुं, साधु-साध्वी का योग मिलने पर निर्दोष दान दूं आदि पाठ सूचित करते हैं कि अध्यात्म विकास में इन व्रतों का सार्वकालिक महत्त्व होने की बजाय अल्प कालिक ही महत्त्व है। अतः सामायिक, संवर, दया की रुचि सम्पन्न श्रावक-श्राविकाओं को मूल गुणों अर्थात् 5 अणुव्रतों की ओर भी अवश्य रुचि बनानी चाहिए।

"नवकार मन्त्र की एकरूपता को कायम रखिए"

जैन धर्म के सब सम्प्रदायों की एकता का मूल आधार महामन्त्र नवकार है। भले ही आगम ग्रन्थों की प्रामाणिकता, उनकी संख्या, आचार पद्धति, पूजा उपासना की विधि, वन्दना प्रार्थना आदि की प्रक्रिया के विषय में जैन समाज भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सोचता व बोलता रहा है, पर इस सब भिन्नताओं के बावजूद नवकार मंत्र की एकता पर सभी सहमत रहे हैं।

पिछले कुछ अर्से से अब नवकार मन्त्र के संदर्भ में भी कुछ व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न धारणाएं देकर जनमानस में भ्रान्ति फैलाई जा रही है। समाज के प्रबुद्ध साधु-साध्वी और चिन्तक वर्ग से निवेदन है कि नवकार मन्त्र के संबंध में जनमानस में द्विरूपता को न पनपने दें।

अनेक चर्चाओं में से चार मुख्य चर्चाओं की ओर प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा जो आजकल मुख्य रूप से सुनने में आ रही हैं-

1. नवकार मंत्र "मन्त्र" नहीं है, "सूत्र" है; इसे मन्त्र कहना अशास्त्रीय है।

2. नवकार मन्त्र में "अरिहन्ताणं" अशुद्ध है, "अरहन्ताणं" शुद्ध है।

3. "णमो" शुद्ध है तथा "नमो" अशुद्ध है।

4. "अरिहन्ताणं" आदि शब्दों में "अनुस्वार" (अन्तिम बिन्दी) को 'म्' बोलना चाहिए या नहीं?

1. 'मन्त्र और सूत्र' - सर्वप्रथम मन्त्र और सूत्र शब्दों के अर्थ को समझें। "मननात् त्रायते" जिसका मनन विघ्नों से, भयों से त्राण करता है, वह मन्त्र है। "सूचनात् सूत्रम्" जो गहन गंभीर अर्थ को सूचित करता है- वह सूत्र है। इन अर्थों के आधार पर आगम का प्रत्येक शब्द मंत्र भी है और सूत्र भी। अल्प अक्षर, अधिक अर्थ होना भी सूत्र और मंत्र दोनों के लिए अनिवार्य है।

सूत्र को आध्यात्मिक कहना तथा मन्त्र को केवल लौकिक कहना भी कपोल कल्पना ही है। दोनों शब्द अध्यात्म और संसार से जुड़े रहे हैं। जैसे कि हिन्दुओं के प्रमुख मन्त्र गायत्री में प्रभु से ईश्वरीय तेज के आधान तथा बुद्धि के प्रकर्ष की प्रार्थना की गई है, जबकि वात्स्यायन काम "सूत्र" में मैथुन सम्बन्धी अश्लील मुद्राओं का सांगोपांग विवेचन किया गया है। जहाँ बौद्धों के सूत्र "पिटक" में बुद्ध की दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख है वहीं "मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यम्" कहकर ऋषियों ने गुरुवचनों को ही मंत्र कहा है। "उववाई सूत्र" में जहाँ मुनियों का विशेषण "विज्जा पहाणा, मंतपहाणा" (मुनि विविध विद्याओं और मंत्रों के भण्डार होते हैं) हैं वहाँ "प्रश्न व्याकरण सूत्र" में 108 प्रश्न, 108 अप्रश्न, 108 प्रश्नाप्रश्नों के अंतर्गत अंगुष्ठ प्रश्न, बाहु प्रश्न आदि लौकिक प्रश्नों का भी समावेश किया गया था। हजारों सालों से पूज्य आचार्य भगवंतों ने "नास्ति नमस्कार समो मन्त्रः" कहकर नवकार की मंत्र रूप में मान्यता और स्थापना की है। इस स्थापित और मान्यता प्राप्त शब्द को विस्थापित करके जैन समाज का हम हित नहीं कर सकते और यदि हम मंत्र शब्द को केवल "वैदिक" मानकर जैन वाङ्मय से बहिष्कृत करना चाहते हैं तो फिर हमें "दीक्षा" शब्द का भी त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि जैन आगमों में "सर्वविरति चारित्र ग्रहण" को कहीं भी दीक्षा न कहकर "प्रव्रज्या, निष्क्रमण, मुण्डभाव ग्रहण" आदि ही कहा है। "दीक्षा" शब्द तो वैदिक परम्परा में ही प्रचलित रहा है। ऐसे शताधिक शब्द हमारे व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं, जिनका बहिष्कार

संभव नहीं है। अतः मंत्र शब्द को भी बहिष्कृत करना अर्थहीन प्रतीत होता है।

2. अरहन्त या अरिहन्त' - इस प्रसंग की स्पष्टता के लिए दो बातें ध्यातव्य हैं-

1. इस विषय में व्याकरण तथा भाषा विज्ञान के क्या नियम हैं?

2. इतिहास इस विषय में क्या कहता है?

जैन शास्त्रों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है। पिछले एक हजार वर्षों से जैन आगमों के प्राकृत शब्दों की व्याख्या आ. हेमचन्द्र कृत "सिद्धहेम-शब्दानुशासनम्" नामक व्याकरण ग्रन्थ के अष्टम अध्याय (जहाँ केवल प्राकृत भाषा के नियम प्रतिपादित किए गए हैं) के आधार पर सर्वमान्य रूप में की जाती रही हैं। उसके द्वितीय पाद में संयुक्त वर्णों की नियमावली बताई गई है। एक सौ ग्यारहवें सूत्र में लिखा है- "र्ह ह्री श्री कृत्स्न क्रिया दिष्ट्यास्वित्" अर्थात् जिन शब्दों में "र्ह" हो उनके "र" को "इ" का प्रश्लेष (आगम) होता है, तथा ह्री श्री कृत्स्न क्रिया तथा दिष्ट्या इन शब्दों में भी संयोग में 'इ' का आगम होता है। इस नियम के आधार पर गर्हामि, बर्ह, अर्हत् आदि सभी शब्दों का प्राकृत रूप हमें गरिहामि, बरिह तथा अरिहन्त बनाना पड़ेगा। 'करेमि भन्ते, इच्छामि खमासमणो' आदि पाठों के अंत में आज तक 'तस्स भन्ते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि' पाठ बोला जाता है, व्याकरण के साथ-साथ भाषा विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है कि 'र्ह' और 'र्य' का उच्चारण जनभाषा में प्रायः 'इ' मिश्रित होता है। हम स्वयं गौर करें तो इस सिद्धांत की पुष्टि होती दिखाई देगी। हम आचार्य को आचारिय, कार्य को कारिय, आर्य को आरिय, अनिवार्य को अनिवारिय बोलते हैं। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'ह्री' को हिरी, श्री को सिरी, कृत्स्न को कसिण, क्रिया को किरिया तथा दिष्ट्या को दिट्ठिया बोला जाता है व लिखा भी जाता है। 'र्ह' के उदाहरणों के लिए श्री आचारांग सूत्र के 1 श्रुत स्कंध के 5वें अध्ययन का तीसरा

उद्देशक देखें- 'इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ? जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।' (हे आत्मन्! तू अपने आप से युद्ध कर, तुझे बाह्य युद्ध से क्या लेना, यह युद्ध का अवसर फिर दुर्लभ है) तथा उत्तराध्ययन के ग्यारहवें अध्ययन की 14वीं गाथा भी - **'पियंकर पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई'** (प्रिय बोलने वाला तथा प्रिय करने वाला शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी है) यहाँ अरिहं अरिहइ उच्चारण स्वीकार किया है।

आ. हेमचन्द्र ने उपर्युक्त सूत्र के तीन सूत्र बाद 'अर्हत्' शब्द के लिए एक और नियम भी दिया है, और वही नियम जहाँ 'अर्हत्' शब्द के रूप विस्तार का कारण बना, वही नियम किसी-2 के लिए विवाद का कारण भी बन गया। वहाँ लिखा है- 'उच्चार्हति' अर्हत् शब्द में ह से पूर्व र् के बाद इ के अलावा 'अ तथा उ' का प्रश्लेष (आगम) भी किया जा सकता है। अर्थात् अर्हत् के अरिहन्त के अलावा अरहन्त तथा अरुहन्त रूप भी बनाए जा सकते हैं। शब्द विस्तार से बल पाकर पूर्वाचार्यों ने विभिन्न प्रसंगों पर बिना किसी हठाग्रह के इन तीनों का यथारूचि प्रयोग किया है। अल्पवहुत्व की भाषा में कहें तो सबसे थोड़ा अरूहन्त का, उससे अधिक अरहन्त का तथा उससे अधिक अरिहन्त शब्द का प्रयोग हुआ है।

अत्यधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों तथा शिलालेखों की अनुपलब्धता से केवल 'अभिधान राजेन्द्र कोष' के पृष्ठ 1837 से 1842 पृष्ठ तक के कुछ उद्धरण प्रस्तुत है जो अरिहन्त' शब्द की अधिक प्रचलितता का संकेत देते हैं- **यतो भगवत्यादावेवं पचं पदान्युक्तानि 'नमो अरिहन्ताणं... बंभीए लिवीए' इत्यादि। नवकार-निर्युक्ति चूर्णौ त्वेवमुक्तम् नमो अरिहन्त सिद्ध आयरिय...। अरिहन्त नमुक्कारो जीवं मोएइ भव सहस्साओ** (भगवती सूत्र के प्रारंभ में लिखा है 'अरिहन्तों को नमस्कार... ब्राह्मी लिपी को नमस्कार) (नवकार निर्युक्ति की चूर्णि में ऐसा कहा है - अरिहन्त सिद्ध आचार्य... को नमस्कार हो) (अरिहन्तों को किया गया नमस्कार जीव को हजारों भवों से मुक्त कर देता है)

आवश्यक सूत्र की मलयगिरि टीका से संदर्भ लेते हुए लिखा है **"अरिहन्त वंदण नमंसणाणि, अरिहंति पूयसक्कारं, सिद्धि गमणं च अरिहा अरिहंता तेण वुच्चंति"** (वे वंदना नमस्कार के अधिकारी है, पूजा सत्कार के अधिकारी हैं और सिद्धिगमन के अधिकारी हैं, इसलिए अरिहन्त कहलाते हैं।) **'ते अरिहन्ता सिद्धायरिओवज्झाय साहवो नेया, जे गुणमय-भावाओ गुणा व पुज्जा गुणत्थीणं** (अरिहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु गुणमय बन जाने से गुणार्थियों के लिए गुणों की तरह ही पूजनीय होते हैं।) भाष्यकार के हवाले से- **'मग्गोवएसणाओ अरिहन्ता हेयओ हि मोक्खस्स, तब्भावे भावाओ, तदभावेऽभावओ तस्स'** (अरिहन्त मोक्ष मार्ग उपदेश देने के कारण मोक्ष के हेतु हैं क्योंकि उसके होने से ही मोक्ष है, उसके अभाव में मोक्ष का भी अभाव है।) **'रागद्दोस कसाए इंदियाणि य पञ्च वि परीसहे उवसग्गे नामयता नमोरिहा तेण वुच्चंति'** (राग, द्वेष, कषाय, पांच इन्द्रियों और परीषहों और उपसर्गों का नमाने (झुकाने) के कारण वे नमोर्ह, नमस्कारार्ह - नमस्कार के अधिकारी कहलाते हैं।) **'पहवी करणं नामण महवा नासण मओ जहाजोगं, नेयं रागाईणं तन्नमाओ नमोरिह'** ॥ अर्थात् नामन का अर्थ प्रह्वीकरण या नाशन भी किया जा सकता है अतः रागादि का नामन करने वाले नमोऽर्ह कहलाते हैं। **'अरिहन्ताई नियमा साहू-साहू उ तेसु भइयव्वा'** (अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय तो नियमात् साधु होते हैं पर साधु अरिहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय रूप में भजना (विकल्प) से होते हैं।)

अरिहन्त, अरहन्त तथा अरुहन्त इन तीनों शब्दों में वर्णगत अंतर होते हुए भी अर्थ भेद नहीं है। तीनों का मूल अर्थ है 'जो नरेन्द्र सुरेन्द्र असुरेन्द्रों द्वारा उपात्त (कृत) पूजा के अधिकारी हैं तथा चार घाती कर्मों का क्षय होने से अवश्यंभावी मुक्ति के अधिकारी हैं वे अर्हत् होते हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोष में ही अगले पृष्टों पर 'अरहन्त' शब्द का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है पर अरिहन्त की तुलना में अल्प। आ.

अमोलक ऋषि जी. म. तथा श्री घासीलाल जी म. आदि ने आवश्यक सूत्र में 'अरिहंत' रूप को स्वीकृत किया है पूज्य श्रुतधर श्री समर्थमल जी म. के प्रश्नोत्तरों की प्राचीन प्रतियां (समर्थ समाधान) अरिहन्त शब्द को मान्यता देती हैं।

तीनों शब्दों से ये अर्थ तो अविकल रूप निकलता ही है, हां ये हमारे टीकाकारों की शैली रही है कि वे एक शब्द के अनेक अर्थ- यदि वे आगम की भावना के अनुकूल अविरूद्ध हों तो- करते आए हैं। जैसे 'पज्जूसणा, पज्जोसण, पज्जूसवणा' आदि कई प्राकृत रूप देकर अर्थ भी पर्यूषणा, पर्युपासना, पर्युपशमना आदि रूप में करते आए हैं।

'सुयं मे आउसं तेपं भगवया' इस वाक्य का अर्थ- सुना है मैंने हे आयुष्मन्, उस भगवान् ने ऐसा फरमाया, तो प्रचलित है ही **'आउसंतेणं'** की आवसता-आमृशता आदि छाया करके 'मैंने प्रभु चरणों में रहते हुए, मेरे द्वारा प्रभु से पूछने पर' आदि अर्थ किए हैं।

पश्चाद्वर्ती किसी भी आचार्य ने इन अर्थो को अनागमिक कह कर विरोध नहीं किया। एक ही शब्द के अनेक अर्थ करना विद्वत्ता की पहचान मानी जाती थी। 'द्विसंधान, त्रिसंधान से लेकर सप्तसंधान काव्यों की परम्परा भारतीय साहित्य-विशेषतः जैन साहित्य- की अनमोल थाती रही है जिन काव्यों में एक श्लोक के दो तीन... सात अर्थ निकलते थे।

इसी तरह अर्हत् शब्द से निष्पन्न तीन प्राकृत रूपों के विभिन्न अर्थ हमारे आचार्यों ने आगम सम्मत होने से मान्य किए हैं जैसे कि- 1. **अरहंत-** पूजा के अधिकारी, मुक्ति के अधिकारी (सामान्य अर्थ) अ रहस्- संसार के त्रिकालवर्ती सभी तत्व जिनके लिए रहस्य (अज्ञात) नहीं रह गए हैं + (विशेष अर्थ) 2. **अरिहन्त-** पूजा के अधिकारी, मुक्ति के अधिकारी (सामान्य अर्थ) राग द्वेष रूप भाव शत्रु का हनन करने वाले चार घाती कर्मों को नष्ट करने वाले (विशेष अर्थ) 3. **अरूहन्त-** पूजा व

मुक्ति के अधिकारी (सामान्य अर्थ) राग द्वेष रूप कर्म बीज नष्ट होने से पुनः संसार में जन्म नहीं लेने वाले (विशेष अर्थ)

नोट- अर्हत् शब्द को ही पकड़े रहें तो तीनों विशेष अर्थ अवगत नहीं हो सकते।

ये सभी अर्थ आगमानुकूल हैं और प्राकृत के तीनों रूप भी शुद्ध हैं। जैसे वृहस्पति शब्द के "बहप्फई, बिहप्फई, बुहप्फई" तीनों रूप व्याकरण सम्मत और शुद्ध हैं। अतः किसी एक को सर्वथा शुद्ध तथा अन्य को सर्वथा अशुद्ध कहना हठाग्रह सा ही होगा। उर्दू के कुछ शब्दों को देखिए- सर, सिर, फजा, फिजा, जबां, जुबां, वर्ण भेद होने पर भी भावार्थ समान हैं, उच्चारण व लेखन भिन्न हैं।

अरिहन्त शब्द को छोड़कर अरहन्त को अपनाने वालों का एक तर्क सुनने में आता है कि 'अरिहन्त' शब्द से अरिहनन, शत्रु वध की गंध आती है जो कि जैन धर्म के अहिंसाभाव के अनुकूल नहीं हैं। इस संबंध में निवेदन है कि यहाँ शत्रु वध किसी देव, मनुष्य या तिर्यञ्च के वध को सूचित नहीं करता अपितु राग द्वेष आदि अन्तःशत्रुओं का वध ही यहाँ अभिप्रेत है। जैन धर्म तो क्षत्रियों का धर्म रहा है अतः इस धर्म के आगमों में क्षत्रियोचित शब्द और उपमाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। स्वयं जैन शब्द जिन शब्द से बना है, हम अपने तीर्थंकरों को जिन इसलिए कहते हैं क्योंकि वे राग द्वेष के आत्यन्तिक जेता- समूल नाश कर्ता होते हैं। **"रागद्वेष विजेतारं ज्ञातारं विश्ववस्तुनः, शक्र-पूज्यं गिरामीशं तीर्थेशं स्मृतिमानये"** (राग द्वेष के विजेता, विश्व के ज्ञाता, इन्द्र पूज्य, वाणी के स्वामी, तीर्थनाथ का मैं स्मरण करता हूँ।) तीर्थंकरों की दीक्षा के समय देव और मनुष्य शुभ कामना करते हैं **'निहणाहि कम्मसत्तुं, हण परीसह चमुं, अजियं जिणाहि, जिय मज्झे वसाहि'** (आप कर्म शत्रुओं का हनन करो, परीषहों की सेना को कुचल डालो, नहीं जीते शत्रुओं को जीतो और जीते हुओं के बीच में रहो।)

उत्तराध्ययन सूत्र नवम अध्य. में नमिराज कहते है– **'सद्धं नगरं किच्चा'** आदि तीन गाथाएं– मैंने श्रद्धा का नगर बनाया है, उससे तप और संयम की अर्गलाएं हैं। क्षमा का प्राकार है, तीन गुप्तियों की सुरक्षा बैठाई है तथा सत्य का बल है, तपस्या के तीर हैं, कर्मों का घेरा है मैंने पूरी तरह से युद्ध जीत लिया है। 23वें अध्य. में गौतम स्वामी केशी श्रमण को कहते हैं- **एगे जिए जिआ पञ्च, पञ्च जिए जिआ दस, दसहा हु जिणित्ताणं सव्व सत्तू जिणामहं' 'एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य. ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी'** (मैं एक शत्रु को जीत कर पांच को जीतता हूँ, पांच को जीतकर दस शत्रुओं को जीतता हूँ और फिर सभी शत्रुओं को जीत लेता हूँ तथा मेरे शत्रु हैं- अपनी आत्मा, चार कषाय और पांच इन्द्रियां)

केवल अरि हनन ही नहीं, अन्यान्य क्रियाओं को भी हमारे आगमकारों ने नए सांचे में ढाला है, यज्ञ, कृषि, सागर-संतरण जैसे शब्दों को अपनाकर उन्होंने अपने भावों को बड़ी सुन्दरता प्रदान की है। परन्तु शब्द को पकड़कर बैठने वालों को इन शब्दों से भी परेशानी खड़ी हो सकती है। सम्भवतः अरि हनन के भावार्थ को सभी व्यक्ति समझते हैं, वे भी जो अरिहन्त शब्द को इस अर्थ के बहाने निरस्त करना चाहते हैं पर अपने मंतव्य को अतिवाद पर लाकर ही अपना पक्ष रखना उनकी मजबूरी बन गई लगती है।

इस सारे विवेचन का सारांश ये है कि नवकार मंत्र के प्रथम पद में अरिहन्त को अशुद्ध कहना अनुचित है। अशुद्ध तो अरहन्त भी नहीं है पर जनसामान्य में द्विरुपता आ जाने से दुविधा की स्थिति बन जाती है। अतः जैन समाज की इस सर्वमान्य संपत्ति को भ्रान्ति का विषय न बनने दें तो अच्छा है, अन्यथा कल कोई अरुहन्त को ही सर्वथा शुद्ध कहकर अरहन्त वालों को संशय में डाल देगा। यों तो गृह शब्द का उच्चारण भिन्न-2 प्रान्तों में भिन्न-2 ढंग से होता है जैसे दिल्ली हरियाणा में - Grih के रूप में U.P में Grah के रूप में तथा महाराष्ट्र आदि की

तरफ Gruh के रूप में। ग्रह, ग्रुद्ध, ग्रिह इन तीनों उच्चारणों में अधिक मान्यता जैसे Grih की है; इसी तरह अरिहन्त, अरहन्त, अरुहन्त इन तीनों में भी अधिक मान्यता अरिहन्त की ही रही है। अतः इस रूप को प्रसारित-प्रचारित करें तो समाजहित सुरक्षित रहेगा॥

3. 'नमो या णमो' - इन दोनों पर भी अपनी धारणाओं के बजाए व्याकरण के नियमों के अनुसार ही निर्णय कर ले तो अधिक प्रमाणिकता बनी रहेगी।

"स्वराद् संयुक्तस्यानादेः" स्वर के बाद संयोग रहित कुछ व्यंजनों का वर्ण परिवर्तन हो जाता है पर वह परिवर्तन शब्द के पहले व्यंजन को नहीं होता। जैसे ख - घ - थ - ध - भ को "ह" हो जाता है, नख का रूप नह, लघु का रूप लहु, तथा का रूप तहा, जघन का रूप जहण, नभ का रूप नह बन जाता है। वैसे ही इन्हीं परिस्थितियों में 'न' का रूपान्तरण 'ण' हो जाता है– 'नोणः' प्राकृत व्याकरण 1 पाद। मन का रूप मणो, वचन का वयण बनता है। यद्यपि कोई भी व्यंजन प्रारंभ में परिवर्तित नहीं होता पर 'न' के संबंध में आचार्य हेमचंद्र ने एक अपवाद भी मान्य किया है 'वादौ' अर्थात् शब्द का प्रथम 'न' - 'ण' भी हो सकता है, न भी रह सकता है। नमि, नेमि, नंदी को जैसे णमि, णेमि तथा णंदी के रूप में उच्चारित किया जा सकता है उसी तरह नमो और णमो दोनों रूप व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं। जो व्यक्ति और वर्ग अपने यहाँ प्रचलित उच्चारण को नितान्त शुद्ध तथा दूसरों के यहाँ उच्चारित उच्चारण को अशुद्ध कहते हैं, उन्हें अपनी त्रुटि का संशोधन कर लेना चाहिए। वैसे मुख-सुख तथा भाषा-माधुर्य-सौन्दर्य की दृष्टि से देखा जाए तो मूर्धन्य व्यंजनों से दन्त्य व्यंजनों को प्रथमिकता दी जाती है। अर्थात् णमो के बजाए नमो को अधिमान दिया जाता है। स्याद्वाद की भाषा को समझें – एक नय एक वस्तु-अंश को प्रस्तुत करते हुए अन्य अंश कथन न करे, उपेक्षा भाव रखे तो सुनय होता है और अन्य

अंश का निषेध-खण्डन या विरोध करे तो दुर्नय बन जाता है। नमो और णमो के संबंध में भी यह स्याद्वादी-समन्वय वादी दृष्टिकोण अपेक्षित है।

4. 'ण' के ऊपर अंकित अनुस्वार के उच्चारण की समस्या- उच्चारण से सम्बन्धित व्यवस्थाओं का निर्धारक शास्त्र 'शिक्षाशास्त्र' किंवा Phonetics कहलाता है। उसमें ये बताया जाता है कि किसी वर्ण का उच्चारण स्थान क्या है। संस्कृत प्राकृत व्याकरणों के प्रारम्भ में छात्र को उच्चारण स्थान सिखाना अनिवार्य माना जाता था। वहाँ बताया गया है कि वर्णों के 8 उच्चारण स्थान हैं- उर, कण्ठ, मूर्धा, जिव्हामूल, दन्त ओष्ठतालु, नासिका। अ, क वर्ग, ह तथा विसर्ग का उच्चारण स्थान कण्ठ है इ, चवर्ग य, श का तालु। ऋ, टवर्ग, र, ष का मूर्धा। लृ, तवर्ग, ल, स का दन्त्य। उ, पवर्ग का ओष्ठ। अनुस्वार (ं) का नासिका तथा ङ, ञ, ण, न म, का उच्चारण स्थान अपने-2 वर्ग के साथ नासिका है।

इस भूमिका के साथ आइए अरिहन्ताणं, सिद्धाणं आदि में लिखे जाने वाले उच्चारण का स्वरूप समझ लें। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में एक मुख्य अन्तर ये है कि संस्कृत में अनुस्वार का प्रयोग अल्प होता है जबकि प्राकृत में बहुत अधिक। संस्कृत में 'म्' को अनुस्वार तभी किया जाता है जब बाद में कोई व्यंजन उपस्थित हो, 'मोऽनुस्वारः' यदि बाद में कोई भी वर्ण न हो तो 'म्' को 'म्' ही रहेगा, अनुस्वार नहीं होगा 'अहम्' अपश्यम् में म् ही रहेगा अनुस्वार नहीं होगा। यदि बाद में स्वर हो तो भी म् को अनुस्वार नहीं होगा। तथा अनेक स्थलों पर म् को अनुस्वार होने के बाद पुनः अनुस्वार का व्यंजनीकरण हो जाता है। **"अनुस्वारस्य ययि पर स्वर्णः"** जैसे संग्राम का सङ्ग्राम, परंपरा का परम्परा बन जाता है। इसलिए संस्कृत के अभ्यासी प्रायः अनुस्वार को म् के रूप में बोलने लगते हैं जो कि अशुद्ध है पर बहुलता के कारण यह अशुद्धि उपेक्षित हो जाती है। इसके विपरीत प्राकृत भाषा में अनुस्वार का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में होता है। संस्कृत की जिन विभक्तियों में अनुस्वार के प्रयोग का अंश भी नहीं है, प्राकृत में वहाँ भी अनुस्वार होता है। **'कत्वा**

स्यादे ण स्वोर्वा'- कत्वा के ण के बाद, 'टा' (तृतीया एक वचन) आम् (षष्ठी बहुवचन) सु (सप्तमी बहुवचन) में अनुस्वार विहित किया गया है। तृतीय के बहुवचन का 'हि' भी सानुस्वार किया गया।

'मोऽनुस्वारः' से पद के अंत में प्रत्येक मकार को अनुस्वार किया गया। यदि बाद में स्वर परे हो तो भी विकल्प से 'म्' को अनुस्वार मान्य किया। संस्कृत से ठीक उल्ट 'ङ् ण् न् नो व्यंजने' सूत्र से व्यंजन परे हो तो ङ् ण् ञ् न को भी अनुस्वार के उच्चारण पर विशेष सावधानी की आवश्यकता है। ध्यान रहे 'नमो अरिहंताणं में अनुस्वार का उच्चारण 'म्' के रूप में करना अशुद्ध है क्योंकि 'म्' को दोनों होठों को छूते हुए नाक से बोला जाता है। जबकि अनुस्वार को केवल नाक से। प्रथमतः तो 'अरिहन्ताणं, तेणं कालेणं, नमोत्थुणं' आदि में 'म्' कभी रहा ही नहीं, क्योंकि इन शब्दों में पहले तो चतुर्थी विभक्ति को षष्ठी विभक्ति, सप्तमी को तृतीय आदि विभक्ति को षष्ठी विभक्ति, सप्तमी को तृतीया आदि विभक्ति की गई फिर 'टाऽऽमोर्णः करके 'क्त्वा स्यादेः' सूत्र से अनुस्वार किया गया है। अतः उस अनुस्वार को 'म्' के रूप में बोलने का कोई कारण नहीं है। दूसरे यदि किसी तरह इन पदों में अन्तर्निहित 'म्' को सिद्ध भी कर दे तो भी अनुस्वार करने के बाद तो 'म्' बोलने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। जिन आचार्यों ने विशेष नियम बनाकर 'म्' को अनुस्वार बोलने का विधान बनाया हम 'म्' बोलकर उनके विधान को भंग कर रहे होते हैं या उनके किए कराए पर पानी फेरते हैं। लिखने में अनुस्वार व बोलने में 'म्' यह द्विरूपता बन्द होनी चाहिए।

भाषा शास्त्रियों ने लिपि में अनुस्वार लिखना ही पर्याप्त नहीं माना अपितु उसे बोलने में लाना जरूरी समझा है।

अब प्रश्न यह है कि अनुस्वार को बोला कैसे जाए? क्योंकि ण के बाद अनुस्वार बोलने में काफी असुविधा होती है। इसका सीधा सा समाधान है कि 'ण' बोलने के बाद नाक में से व्यंजन का उठाओ, इससे

उच्चारण स्वतः ही शुद्ध हो जाएगा। आंख चांद, कोंपल, कंठ, घंटी, चंचल में जैसे हम अनुस्वार को नाक के माध्यम से बोलते हैं वैसे ही 'नमो अरिहंताणं' में बोलने का ध्यान रखें। 'ङ' के रूप में बोलने से भी उच्चारण-शुद्धि नहीं रहती। प्रारंभ में कुछ कठिनाई महसूस हो सकती है, पर अभ्यास करने पर उच्चारण शुद्धि हो सकती है।

उपर्युक्त चर्चा यद्यपि कुछ लम्बी और रसहीन भी लग सकती है क्योंकि सामान्य व्यक्तियों के लिए उच्चारण इतना महत्वपूर्ण विषय नहीं है। वैसे भी जैन धर्म में भावना शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है, शब्द-शुद्धि पर कम फिर भी इतने विस्तार से लिखने का कारण ये है कि पिछले कुछ अर्से से नवकार मंत्र की प्रचलित प्रणाली को परिवर्तित करने की आवाजें सुनने में आती रहीं हैं। इससे जनमानस अनिश्चय की स्थिति में आ रहा है। कुछ भावुक जन नई आवाज को सत्य मानकर पूर्ववर्ती पद्धति के प्ररूपक गुरुओं को गलत कहने की सीमा तक आने लगे, अतः कुछ स्पष्टीकरण उपयुक्त लगा। इन सब साक्ष्यों का लक्ष्य ये नहीं है कि किसी की मान्यता को खण्डित करके नई विषमता को जन्म दिया जाए। पुनश्च, अपना प्रयास और भाव इतना ही है कि हर विषय पर विभाजित जैन समाज नवकार मन्त्र पर भी विभाजित न हो जाए। इस समाज को विभाजित करने में कुछ भी देरी नहीं लगती, एक विरोधी बात उछालो और एक नया खेमा खड़ा मिलेगा। यदि किसी प्रबुद्ध व्यक्ति को कोई तथ्य गहन शोध के बाद उपलब्ध हुआ हो और उसे अभिव्यक्ति देना चाहे तो अपना परामर्श है कि समाज के प्रमुख विद्वज्जनों, निर्णायक संतों के सामने अपना विचार रखे और सभी मिलकर एक निर्णय ले लें। कम से कम नवकार मन्त्र की एकरूपता तो बनी रहे। और मुद्दों पर जैन समाज की एक आवाज होना तो सम्भव प्रतीत नहीं होता। मगर हजारों सालों से कायम रही नवकार मन्त्र की एकता को बरकरार रखें, ऐसी विनति है।

अस्पताल से काल करने वाले की गति

धार्मिक व्यक्ति की अनेक विशेषताएं होती हैं पर उसमें कुछ दुर्बलताएं भी प्रवेश कर जाती हैं। पहली तो यह कि अपने द्वारा अपनाई गई पद्धति से भिन्न अन्य सभी पद्धतियां उसकी नजर में सदोष होती हैं। दूसरी ये कि कोई उसके आचरित कार्य की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आलोचना कर दे तो शीघ्र ही उत्तेजना का शिकार हो जाता है। इन दो दुर्बलताओं की वजह से धार्मिक समाज में प्रायः चर्चाओं का बाजार गर्म रहता है, गहमा-गहमियां चलती हैं, आरोप-प्रत्यारोप भी प्रारम्भ हो जाते हैं। फलस्वरूप अच्छे-2 त्यागी-तपस्वी भी असमाधि से घिर जाते हैं। ऐसी ही असमाधि को जन्म देने वाला मुद्दा कुछ अर्से से सुनने में आ रहा है। वैसे तो उपेक्षणीय है तदपि कुछ असमाधि घटे इस आशय से लिखा जा रहा है। विषय है कि क्या अस्पताल में काल करने वाले साधु-साध्वी नरक तिर्यंच गति में जाते हैं? आओ जरा विवेचन करलें—

स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में, तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्ययन में चारों आयुओं के बांधने वाले जीवों की जीवन-शैली का वर्णन किया है। महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार और पंचेन्द्रिय वध, ये चार महापाप करने वाले जीव नरक की आयु का बंध करके वहां जाते हैं। केवल अस्पताल में जाने मात्र से कोई इतना महापापी हो जाता होगा, ये सामान्यतया बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। नरक तिर्यंच में जाने वाले के जीवन भर का लेखा-जोखा, उनके आचरण और मनोभावों का लेखा-जोखा उत्तराध्ययन के 5वें और 7वें अध्ययन में काफी विस्तार में दिया गया है।

काम-भोगों में अत्यन्त गृद्ध मानव क्रूर कर्म करता है। कोई भयंकर कूट कपट का सहारा लेता है। उसकी धारणा होती है कि परलोक किसने देखा। ये भोग तो साफ़ दिख रहे हैं। उसकी लोक-परलोक पर भी कोई श्रद्धा नहीं होती। उसकी रुचि लोकानुसरण की होती है। काम-भोग के अनुराग से क्लेश (नरक) को पाता है। वह त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा

करता है। अर्थ से और अनर्थ से प्राणियों का वध करता है। हिंसक, झूठा, कपटी, चुगलखोर, शठ, शराब और मांस के भोग को अच्छा, उत्तम, कल्याणकारी मानने वाला, स्त्री-भोग तथा धन में मन-वचन-काया से आसक्त व्यक्ति जब मृत्यु के निकट होता है तब उसे अपने भव की याद आती है और पछताता है। फिर वह भी भ्रष्ट लोगों की भान्ति नरक में जाकर प्रगाढ़ वेदना को भोगता है– "उत्तराध्ययन– 5वां अध्याय– गाथा 4 से 12 का मूलार्थ"। 7वें अध्ययन में भी इसी आचरण शैली को नरक का कारण बताया है। "हिंसक, झूठा, राहगीरों को लूटने वाला, चोर, कपटी, शठ, स्त्री भोगों में गृद्ध, महारम्भ, परिग्रह में मस्त, शराब, मांस का भोक्ता, बकरों को चबाने वाला नरक की आयु का बन्ध कर लेता है– सातवां अध्ययन 5, 6, 7 गाथाओं का अर्थ।" प्रथम कर्मग्रन्थ में अनन्तानुबन्धी कषाय को नरक गति का तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय को तिर्यञ्चगति का कारण बताया है। यदि आयु-बंध के समय मिथ्यात्वी अव्रती जीव की लेश्याएं कृष्ण, नील, कपोत रूप हो जाएं तभी वे नरक का बंध करते हैं, वे भी सभी नहीं क्योंकि इन तीन अशुभ लेश्याओं वाले भी तिर्यंच, मनुष्य, और देवायु (भवनपति-व्यंतर) का बंध कर सकते हैं। नरक भेजने का फ़तवा देने वालों को इस ओर भी गौर करना होगा। या तो ये धारणा बना दी जाए कि जो व्यक्ति जब तक अस्पताल में दाखिल रहेगा तब तक वह मिथ्यात्वी, अनन्तानुबंधी कषाय का उदयी, तीन अशुभ लेश्याओं वाला शराबी और मांसाहारी कहलाएगा अन्यथा यह कहना कि अस्पताल में मरने वाले की गति नरक तिर्यंच है एक मिथ्या प्रलाप ही लगता है। आज आप यह घोषणा कर रहे हैं कि अस्पताल में मरने वाला साधु नरक में जाता है। कल कोई यह भी दावा कर देगा कि जीवन में कभी भी अस्पताल में जाने वाला नरक में जाएगा क्योंकि अग्रिम आयु का बंध अन्तिम समय में तो कम ही होता है। वर्तमान जीवन के तृतीयांश में आयु का बंध होता है और किसी भी छद्मस्थ को क्या पता कि वह समय कौन सा है। अतः वह कभी भी अस्पताल में दाखिल हुआ हो वह नरक का भागी

बनेगा ही। परसों तीसरा महाज्ञानी व्यक्ति ये कहेगा कि अस्पताल में जाने वाला ही नहीं चिकित्सा-मात्र करवाने वाला नरक तिर्यंच में जाएगा क्योंकि अस्पताल में भी शरीरासक्ति ही ले जाती है और चिकित्सा भी तो शरीरासक्ति से ही करवाई जाती है, फलतः वह नरक का बंधक होना ही चाहिए। सम्भव है उनके तर्क में किसी को शास्त्रीय समर्थन भी मिल जाए। आचारांग में लिखा है– **"तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपित्ता विलुंपित्ता अकडं करिस्सामिति मण्णमाणे जस्स वि स करेइ वा...।"** जो ज्ञानी व्यक्ति चिकित्सा का समर्थन करता है वह हनन-छेदन-भेदन आदि दुष्कृत्यों में पड़ जाता है।

इस तरह तो इन प्ररूपणाओं का सिलसिला अन्तहीन हो जाएगा। भावुकतावश कही गई बात को सिद्धान्त रूप में लेने से उत्सूत्र परूपणा का खतरा खड़ा हो जाएगा। श्रमण भगवान् महावीर ने साधु-साध्वी को रोगोपशम के लिए औषध-भेषज की अनुमति दी है तथा गृहस्थ को भी औषध-भेषज दान का व्रत बताया है। रोग की स्थिति में आर्त्तध्यान बढ़ता है, परनिर्भरता बढ़ती है, शीघ्र आयु क्षीण होने से संयम पालन का अवसर छूटता है, निर्जरा टलती है। अतः चिकित्सा का प्रावधान है। ज्ञान प्राप्ति की पांच बाधाओं में रोग भी एक बाधा है, अतः भगवान् ने उपचार के लिए छूट दी है। कोई साधु-साध्वी तो क्या, सामान्य गृहस्थ भी अस्पताल में मरने के लिए नहीं जाता, ठीक होने के लिए जाता है। पर आयु का पता क्या, कब कहां क्षीण हो जाए।

पुराने युग में उपचार के साथ अस्पताल में भर्ती होकर रहने की कोई व्यवस्था नहीं थी, अतः इस सम्बंध में आगम में उल्लेख नहीं मिलता। पर उल्लेख न मिलने मात्र से Hospitalisation को नरक गति का कारण नहीं माना जा सकता। किसी का प्रति-तर्क हो सकता है कि Hospitalisation में संथारा संभव नहीं है, अतः उस साधु-साध्वी की गति खराब होगी, पर आगमों में ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है कि जो अन्तिम समय में संथारा नहीं करते वे नरक तिर्यंच में ही जाते हैं। यदि

ऐसा हो तो देवों की असंख्य संख्या संभव ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि संथारा करके मरने वाले मुनि और श्रावक (श्रावक तो इस संख्या से पृथक् हैं) तो दो हजार से नौ हजार करोड़ या कुछ न्यूनाधिक ही हो सकते हैं जबकि देवों की कुल संख्या असंख्यात होती है। देवगति में तो मिथ्यात्वी, अव्रती मनुज, तिर्यंच कोई भी जा सकता है। वहां जाने के लिए संथारा करना कोई शर्त नहीं है। नरक में जाने के लिए संथारे का अभाव तथा देवलोक में जाने के लिए संथारा आवश्यक नहीं है। अतः शेष देवता कैसे बने? बिना संथारे के ही।

फिर संथारा केवल आहार-त्याग पर तो निर्भर नहीं है। आलोचना क्षमायाचना के भाव हों, वह भी आराधक है। आगमों में वर्णन आया है— एक साधु अपनी आलोचना करने चला, पर बीच में ही काल कर गया, वह आराधक है। उस बेचारे ने द्रव्य संथारा तो किया ही नहीं, फिर वह आराधक क्यों हो गया। अगली गति का निर्धारण भाव करते हैं न कि द्रव्य क्रिया।

इसके विपरीत ऐसे साधकों के सम्बंध में विचार करना चाहिए जो जीवन में अन्तिम वर्षों में स्मृति लोप हो जाने से उन्हें इस लोक, परलोक और अपनी साधना जीवन का भान ही नहीं रहता। केवल श्वास धारण करके जीवन जीते हैं। जो न अपनी आलोचना कर पाते, न क्षमापना, उपाश्रय में लेटे-2 अन्तिम सांसें लेते हैं और सहवर्ती उन्हें अपनी तरफ से पच्चक्खाण करवा देते हैं। उन्हें क्या पता कि मैंने क्या पच्चक्खाण किया है और यदि किसी अचेतन स्तर पर उनमें आहारादि की इच्छा रही है और सहवर्त्ती वर्ग ने उसे छुड़वा दिया हो तो प्रत्याख्यान कराने वाले को दोष भी लग सकता है तथा जिसे प्रत्याख्यान करवाया है उसे उस प्रत्याख्यान का शुभ-फल न भी मिले। क्योंकि प्रत्याख्यान वही सुप्रत्याख्यान होता है जो सम्यक् प्रकार से अधीत-ज्ञात हो, सुगृहीत हो तथा सुपालित हो अन्यथा तो दुष्प्रत्याख्यान ही हो जाता है। प्रत्याख्यान करवाने वाले को दोष लगता है यह निश्चित न समझें पर सम्भावना

तो बन ही सकती है। तो क्या प्रत्याख्यान करने वाले को और क्या म्रियमाण को पाप-पुण्य लगेगा, इसकी भी समीक्षा कर लेनी चाहिए।

आगमों में जितने भी सथारों का वर्णन आया है वह सब पूर्ण जागृत होशोहवास की स्थिति में ग्रहण किये गए हैं। उनके विपरीत आजकल के संथारों को और उन पर गर्व करने की परिपाटी को एक बार फिर विचार के दायरे में लाने की जरूरत है। अगली गति किसकी क्या हुई या क्या होती है– इस विषय में छद्मस्थावस्था तक कुछ भी कहना दुःसाहस ही है तथा इस दुःसाहस से बचने में ही भला है। नरक स्वर्ग तो हमारे विचारों पर निर्भर है। किसी के कहने मात्र से किसी की गति न सुधरती है न बिगड़ती है।

प्रसन्न चन्द्र राजर्षि का उदाहरण तो इतना सुचर्चित है कि दुहराने की जरूरत ही नहीं। उसका नरक और मोक्ष भावों के ऊपर हुआ। उसका उपचार या अस्पताल आदि से क्या लेना-देना है?

हमारे धर्म में तो खाते-पीते केवल ज्ञान है। नाचते-2 केवल ज्ञान है। शीशमहल में केवल ज्ञान है। हाथी के हौदे पर केवल ज्ञान है। पानी और समुद्र में (जहां अप्काय की हिंसा होती है) मोक्ष है। उत्तराध्ययन 36वां अध्ययन, गाथा नं. 54 के अनुसार दो संज्ञी मनुष्य समुद्र में पड़े-2 तथा तीन संज्ञी मनुष्य सामान्य जल में पड़े-2 भी एक समय में मुक्त हो सकते हैं तथा समुद्र और जल से मोक्ष में जाने वाले अनन्त जीव हो चुके तथा भविष्य में अनन्त होंगे (दो समुद्र में, तीन पानी में युगपद् सिद्ध हो सकते हैं और ऐसे अनन्त हो चुके) फिर अस्पताल ही ऐसा स्थान क्यों अपावन हो गया कि वहां से सीधे नरक ही जाना पड़ेगा?

आगम के अनुसार तो ऐसा प्रमाणित होता ही नहीं। हां, जो आगमों से भी ऊपर ज्ञान धारक हों, उनकी बात अलग है।

अक्षय तृतीया अर्थात् भगवान् ऋषभदेव का पारणा दिवस

भगवान ऋषभदेव का संपूर्ण जीवन किसी भी आगम में नहीं है फिर भी कथा विभाग सर्वत्र प्रचलित है। प्राचीन से प्राचीन ग्रंथों में इस बात को माना है कि वैशाख शुक्ला तीज को प्रभु का पारणा हुआ। आजकल के कुछ लेखक पारणे की तिथि ऋतु सम्वत्सर के हिसाब से चैत्रवदी नवमी बताते हैं पर इसके लिए आगम का पाठ भी नहीं दे पाते। अतः ये कथन आगम के आधार से सत्य ही सिद्ध नहीं होता।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं जिस तिथि को मान्य करती हों वह तिथि यदि आगम की लिखित तिथि से टकराती हो फिर तो अस्वीकार्य हो सकती हैं पर आगम में जिस तिथि का उल्लेख न हो और वह तिथि दोनों सम्प्रदाय मान्य करते हों तो उस तिथि को मानना अधिक न्याय संगत है। सम्वत् 1341 में जिनचन्द्र सूरि के पदारोहण की तिथि वैशाख शुक्ला तीज के सन्दर्भ में लिखा है– "श्री युगादि देव पारणक पवित्रितायां वैशाख शुक्लाक्षय तृतीयायां" अर्थात् ऋषभदेव के पारणे से पवित्र हुई वैशाख सुदी तीज को उनका पदारोहण हुआ। करीब 850 वर्ष पूर्व आ. हेमचन्द्र ने भी यही तिथि मान्य की है– "राधशुक्ल तृतीयायां दानमासीत् तदक्षयम् पर्वाक्षय तृतीयेति ततोऽद्यापि प्रवर्तते।" अर्थात् वैशाख शुक्ला तीज को अक्षय दान हुआ और वह पर्व अक्षय पर्व आज तक चला आ रहा है। और हो सकता है कई हजार साल से चला आ रहा हो। ये सभी प्राचीन प्रमाण इसलिए प्रस्तुत किए जा रहे हैं ताकि पाठक निर्णय कर सकें कि अक्षय तृतीया को भगवान् ऋषभदेव के पारणा दिवस के रूप में मान्यता हजारों साल पुरानी तो है ही और जैनों के दोनों सम्प्रदाय इस पर सहमत हैं। आगम में जब ऋषभदेव भगवान् का जीवन वृत्त ही नहीं मिलता फिर पारणे की तिथि

तो कहां से मिलेगी। उसके लिए हमें अन्य उपयुक्त ऐतिहासिक स्थलों का सहारा लेना पड़ेगा।

इसके अलावा 1050 वर्ष पूर्व दिगम्बर महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण में स्पष्ट लिखा है– "अहियं पक्ख तिण्णसविसेसे किंचूणे दिण कहिए जिणेसे" अर्थात् भगवान् ऋषभदेव ने एक साल से तीन पक्ष के लगभग ज्यादा दिनों में पारणा किया। उन्होंने स्पष्टतः भगवान् का पारणा अक्षय तृतीया को मान्य किया है और ये भी लिखा है कि परम्परा और भी पुरानी है।

समवायांग सूत्र में लिखा है कि प्रभु को एक साल बाद आहार मिला पर एक साल का मतलब 360 दिन ही लिया जाए या उसके आसपास काल भी। ये सामान्य बुद्धि वाला मानव भी समझ सकता है कि महीना सवा महीना कम ज्यादा की गुंजाइश रहती ही है। उनकी तपस्या का काल एक महीना दस दिन ज्यादा पड़ता है पर आगमों में ऐसे बहुत पाठ है जो मामूली अंतर को नजर अंदाज कर देते हैं जैसे आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर के लिए कहा है दीक्षा लेने के बाद भगवान् महावीर ने अभिग्रह ग्रहण किया कि– "बारस वासाइं वोसट्ठ काए चत्तदेहे जे केई उवसग्गा समुप्पजंति तं जहा दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि, अहियासिस्सामि" अर्थात् मैं बारह वर्ष तक कायोत्सर्ग में रहकर शरीर ममता से रहित होकर देव मनुष्य तिर्यंचों के सभी उपसर्गों को सहन करुंगा, तो बारह साल का अभिग्रह धारण करके उन्होंने 12 वर्ष से 6½ महीने ज्यादा और परीषह सह लिए तो क्या उनका अभिग्रह टूट गया? खुद आचारांग में फिर कैवल्य उत्पत्ति की तिथि देकर इस तथ्य को प्रतिपादित कर दिया कि 'बारस वासाइं' शब्द का अर्थ बारह वर्ष से अधिक भी लिया जा सकता है। इस तरह भगवान् ऋषभदेव के संदर्भ में समझ लेना जरूरी है। भगवान् महावीर की केवली पर्याय तीस

साल कह देते हैं जबकि थोड़ी बैठती है। 72 वर्ष पूर्ण आयु कह देते हैं, फिर तो चैत सुदी तेरस को ही निर्वाण होना चाहिए था।

यद्यपि प्रभु महावीर की तपस्या का सही काल मिलता है पर बारह साल कह दें तो उसका अर्थ साल ही करने की जिद नहीं करनी चाहिए। आचारांग सूत्र प्रथम स्कन्ध नवम अध्ययन उद्देशक 2 की चौथी गाथा— "एतेहिं मुणी सयणेहिं समणे आसी पतेरवासे, राइं दिवं पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ" अर्थात् तेरह साल से ज्यादा भगवान् महावीर इस प्रकार के स्थानों का प्रयोग करते रहे, दिन रात यतना करते रहे, प्रमाद रहित और समाधि पूर्वक ध्यान करते रहे। यहां 'पतेर सवासे' शब्द है इसका यदि सामान्य ग्राही अर्थ लेने लगेंगे तो इसका अर्थ करना पड़ेगा प्रकृष्टं त्रयोदश वर्षम् – तेरह साल से ज्यादा लेकिन टीकाकारों को पता है कि भगवान् का साधना काल तेरह वर्ष से कम था तो उन्होंने विवेक बुद्धि का परिचय देते हुए लिख दिया कि तेरहवां वर्ष चालू हो गया था। ये इतिहास के साथ न्याय है। यदि 'प्र' का अर्थ— प्रकृष्ट— ज्यादा ही करते तो जिद और हठ बन जाता।

पतेरवासे शब्द का अर्थ अधिक तर्क संगत बनाने के लिए इस शब्द की संस्कृत छाया पर पुनर्विचार आवश्यक है। 'प्रत्रयोदश वर्षान्' की बजाय 'अपत्रयो दश वर्षान्' वाली छाया अर्थ के निकट है अर्थात् तेरह वर्ष से कुछ कम काल तक भग. महावीर अप्रमत्त रहे।

संस्कृत व्याकरण कर्त्ताओं में एक आदरणीय नाम आ. भागुरि का आता है, उनके अनुसार अव और अपि उपसर्गों के आदि 'अ' का लोप होता है, उसी तर्ज पर प्राकृत भाषा में 'अप' उपसर्ग के 'अ' का लोप होने पर 'पतेरस' शब्द बना, और अर्थ निकला— कुछ कम तेरह वर्ष।

यदि किसी को हठवाद ही रखना है तो स्थानांग सूत्र में श्री ऋषभदेव के लिए लिखा है कि इस अवसर्पिणी के नौ कोडा कोडी सागरोपम बीतने पर भगवान् ऋषभदेव ने तीर्थ प्रवर्तन किया जबकि नौ

कोडा कोडी सागरोपम वाले काल तक उनका निर्वाण भी हो चुका था और तीर्थ प्रवर्तन तो लगभग लाख वर्ष पूर्व ही हो चुका था। तात्पर्य ये है कि इस तिथि को मानने में कोई आगमिक बाधा या दोष नजर नहीं आते। जैनों के अलावा वैष्णव परम्परा के ग्रन्थ 'वाचस्पत्यभिधान' ने भी इस बात की पुष्टि की है कि अक्षय तृतीया वैशाख सुदी तीज को होती है और उस दिन दान का महत्त्व है। ये दान श्रेयांस के दान की सूचना करता है।

जब सारा विश्व इस तिथि को भगवान् ऋषभदेव का पारणा मानता है तो इसे अस्वीकार करने वाले महानुभावों से निवेदन है कि वह आगम प्रमाण दें कि फलां तिथि को भगवान् ऋषभदेव का पारणा हुआ और फिर साथ-2 यह भी प्रमाणित करें कि अनुत्तरोपपातिक सूत्र में मुनि जालिकुमार ने गुणरत्न सम्वत्सर तप किया। उस तप को सम्वत्सर तप क्यों कहा, जिसकी अवधि सोलह महीने की है, यहां सम्वत्सर शब्द से ऋतु सम्वत्सर को आधार बनाकर कुल 354 दिन की तपस्या क्यों नहीं मानी तथा मास शब्द भी 30 या 29 दिन का ही क्यों नहीं लिया गया? यदि गणित का आश्रय लेंगे तो उस तप के कितने ही महीनों में 30 दिन से कम दिन लगे हैं तथा किन्हीं में ज्यादा। बिल्कुल 30 दिन के मास तो केवल 6 ही सिद्ध होते हैं बाकी 10 महीने कम या ज्यादा दिनों के ही प्रमाणित होते हैं। यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता कि आठवें महीने में अठाइयां तीन की जाएं या चार। तीन माने तो 27 दिन का मास बनता है, चार मानें तो 36 दिन का। छठे महीने छः दिन की तपस्या 5 बार मानें तो 35 दिन बनते हैं और 4 बार मानें तो 28 दिन। 11वें महीने में तपस्या दो बार की जाए तो 24 दिन का महीना, तीन बार की जाए तो 36 दिन मास बनता है। 12वें महीने में दो बार के तप से 26 दिन, तीन बार तप से 39 दिन बनते हैं। कहने का भाव यह कि मास और सम्वत्सर शब्द बड़े लचीले हैं। लेखक का अनुरोध है कि आगम के प्रति पूर्ण श्रद्धा तो रखें क्योंकि वही हमारा

आधार है परंतु किसी व्यवस्था या मान्यता का यदि आगम में उल्लेख न हो तो उसे एकदम नकारने की आदत न डालें। इससे जैन समाज बहुत कुछ विप्रतिपत्तियों से बचा रहेगा। किसी आगम में ये पाठ नहीं है कि एक साधु अन्य साधु का लोच करे, पर यदि कोई यह कहने लग जाए कि जो साधु अन्य साधु का लोच करता है, वह आगम के विरुद्ध है तो क्या उसका यह कथन जंचने वाला है। अक्षय तृतीया का मामला भी लगभग उसी तरह का है। भगवान् महावीर की तपस्या की तालिका को ही लें– इस तालिका में एक-2 दिन के हिसाब से उनकी तपस्या के दिन और पारणे गिना रखे हैं, इस तालिका में भगवान् ने चौला या पचौला कहीं किया हो ये जिक्र नहीं है पर आचारांग प्रथम श्रुत स्कन्ध व अध्ययन 4 उद्देशक में लिखा है– "छट्ठेण एगया भुंजे अहवा अट्ठमेणं दसमेणं दुवालसमेणं एगया भुंजे पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे" महावीर स्वामी ने कभी बेला, कभी तेला, कभी चौला, कभी पचौला करके पारणा किया। क्या इस पाठ से मान्य तालिका को खण्डित कर दें। कहीं तो टिकना ही होगा। इस तिथि को अमान्य करना व महान पूर्वाचार्यों के प्रति असभ्य भाषा का प्रयोग करना आगम के अर्थ का अनर्थ व अपलाप करना तथा वर्षीतप को अनुचित ठहराना तपस्या का अवर्णवाद एवं तपस्वियों का अपमान है व उन्हें कर्म-निर्जरा रूप धर्म-तप में अनुत्साहित करना है जो कि नितान्त अनुचित व महामोहनीय कर्म के बन्ध का कारण है।

भगवान ऋषभदेव ने वर्ष पर्यन्त कुछ नहीं खाया-पीया तो इसका अर्थ ये नहीं है कि हम तप के महत्त्व को नकारते हुए वर्तमान में प्रचलित वर्षीतप को अनुचित ठहरा दें। विज्ञ जन चिन्तन करें श्रावक जीवन पर्यन्त की साधुता नहीं ले सकता तो क्या वह एक मुहूर्त्त की सामायिक का अनुकरण नहीं करता? जीवन भर की सामायिक नहीं ले सकता तो क्या एक मुहूर्त्त की भी करना छोड़ दें।

विरोध करने के नाम पर कुछ व्यक्ति दलील देते हैं कि पारणों के आयोजन में इक्षुरस निकालने में हिंसा होती है तथा पारणे में लीलोतरी का प्रयोग होता है। कृपया बुद्धिमता से सोचें स्थानीय संघ सधर्मी बन्धुओं की न्यून या अधिक आरम्भ करके दीक्षा आदि आयोजनों या चातुर्मासों में सेवा करना अपना कर्त्तव्य तथा पुण्य व वैय्यावृत्य जन्य निर्जरा मानता ही है। ठीक है– इक्षुरस की व्यवस्था में वनस्पति की हिंसा तो है पर हिंसा तो दूध गर्म करने में भी है और अग्नि जैसे महान शस्त्र का प्रयोग है। रोटी दाल आदि बनाने में भी हिंसा व अग्नि का प्रयोग है। श्रावक अपने परिवार या स्वाश्रित पशु पक्षी दास के लिए भी भोजन का प्रबंध करता है उसमें हिंसा तो है पर वो श्रावक के लिए अतिचार नहीं है। बल्कि उसका अनुकम्पा तथा वैयावृत्य गुण है। इसके आराधना में बाधा डालने वाला विराधक है।

चातुर्मास व दीक्षा आदि आयोजन भी घोषणा करके ही होते हैं व उनमें दर्शनार्थियों की सेवा हेतु आरम्भ होता ही है पर वो सब समाज की व्यवस्था हैं। संतों का इससे कोई संबंध नहीं होता। इसी तरह घोषणा करके किसी एक क्षेत्र में वर्षीतप के पारणों के आयोजन में भी बुद्धिमानों को ये बात समझ लेनी चाहिए। संत-सती भी यदि इक्षुरस बहरा लेते हैं तो उसमें भी कोई दोष या आगमिक बाधा नहीं है। जब तीर्थंकर भगवान् ने स्वयं इक्षुरस बहरा है तो दोष कैसा? और फिर इक्षुरस अचित्त है, यदि इस अचित्त ग्रहण में दोष माना जाएगा, फिर तो अचित्त जल ग्रहण करने में भी दोष लगने लगेगा। कुछ कहते हैं कि इक्षुरस के बजाए पानी में गुड़ घोलकर पारणा कर लेना चाहिए पर दोषदर्शी व विरोधी तो इसमें भी पानी की हिंसा बताने से परहेज नहीं करेंगे। लीलोतरी के संदर्भ में भी यही बात समझ लें कि निर्दोष व अचित्त ग्रहण करने की मनाही नहीं है। एक आवश्यक बात और कि पारणों के सामूहिक आयोजन अन्य लोगों को भी तपस्या की प्रेरणा देने के लिए है और ऐसा होता भी है। श्रावकों की भावना होती ही है

कि जिन गुरु भगवंतों की कृपा से वर्षीतप किया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनके दर्शन करके ही पारणा करें तथा अक्सर उनकी प्रेरणा पाकर वो अगले वर्ष के लिए भी वर्षीतप की प्रतिज्ञा करने का भाव बना लेते हैं और वर्ष पर्यन्त चार खन्ध ग्रहण करके संवर पूर्वक तप त्याग के भावों में रमण करते हुए महान कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं। क्योंकि तप कर्म निर्जरा का उत्कृष्ट साधन है, ऐसा भगवंतों का वचन है।

जमीकंद की ग्राह्यता अग्राह्यता की समीक्षा

जैन समाज में त्याग का विशेष महत्व रहा है। वस्तु का त्याग, कषाय का त्याग, शरीर का त्याग, हिंसादि 18 पापों का त्याग— ये सब त्याग आत्म शुद्धि के हेतु हैं। वस्तु विशेष के त्याग के पीछे जहां आसक्ति घटाने की भावना काम करती है वहीं त्यज्यमान वस्तु से सम्बंधित हिंसा को घटाने की भावना भी रहती है। सचित्त वनस्पति के त्याग की परम्परा जैन-समाज के श्रावकों में काफी प्राचीन और आदरणीय रही है। जैन-मुनि तो किसी भी एकेन्द्रिय सचित्त वस्तु को लेना तो दूर, छूते भी नहीं हैं। श्रावक भी भावना रखते हैं कि हम भी सचित्त वनस्पति का सेवन न करें या कम से कम करें। साधु-समाज में समय-2 पर इस विषय में विवाद रहा है कि कौन सा फल कब तक सचित्त रहता है और वह कब अचित्त बनता है। केला, सेब, बादाम, अंगूर, दाख आदि चर्चनीय रहे हैं और अब भी हैं। नमक-मिर्च डालने से अचित्त मानना, आग पर रखने के बाद, अच्छी तरह पक जाने के बाद, टेढ़ा चीरने पर, गर्म पानी में से निकालने पर सचित्त होना और न होना आदि विषय अपने-2 ढ़ंग से निर्णीत हुए हैं परन्तु अखिल भारतीय स्तर पर इनका समाधान नहीं हुआ।

इस कड़ी में एक अहम मुद्दा जमीकंद का भी है। उसको भक्ष्य-अभक्ष्य मानने की कई धारणाएं जैन-समाज में प्रचलित हैं— जो जमीकंद का त्याग करते हैं या करवाते हैं वे जमीकंद में अनन्त जीवों की हिंसा से बचने की भावना से युक्त होते हैं। उनकी यह भावना होती है कि हम सर्व वनस्पति के खाने से नहीं बच सकते तो अनन्त-काय से तो बच ही जाएं ताकि हमें अधिक पाप का भागी न बनना पड़े। जैनों के सभी सम्प्रदायों में आलू, मूली, प्याज आदि के त्याग की धारणा है। गुजरात में तो आलू-भक्षण को अण्डा-भक्षण तक उपमित कर दिया जाता है पर क्या वह अतिवादी चिंतन सचमुच ही आगमिक,

अहिंसा-वर्धक और जैनत्व का मूल अंग है? चिंतन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि संख्याओं के गणित ने सब कुछ उल्टा-पुल्टा कर दिया है। न अहिंसा की मूल भावना को स्पर्श किया, न आगमों की प्रामाणिकता रखी और न ही प्रायोगिक धरातल पर जी पाए। जीवों की संख्या को अधिमान देने वालों का तर्क अहिंसा की मूलभूमिका को कैसे ध्वस्त करता है इसके दो उदाहरण—

1. प्राचीन युग में हस्ति तापसों का एक दल होता था जिनका तर्क था कि हम एक हाथी को मारकर कई महीनों तक खाते हैं जबकि शाकाहारी मनुष्य एक दिन में काफी वनस्पति के असंख्य-अनन्त जीवों का वध कर देते हैं। 2. आज-कल कुछ मांसाहारी इस तरह तर्क देते हैं कि हम कम मांस के लिए थोड़े पशुओं को मारते हैं जबकी शाकाहारी मनुष्य फलों सब्जियों के अनेक जीवों का वध करते हैं। जीव तो फलों में भी होता है, फिर शाकाहारी हमसे किस तरह अधिक अहिंसक और करुणाशील हो सकते हैं।

श्वेताम्बरों द्वारा मान्य किसी भी आगम में साधु या श्रावक के लिए ऐसा उल्लेख नहीं है कि वह साधारण वनस्पति का अचित्त रूप में भी सेवन न करे। साधु के लिए जहां भी निषेध है वहां सचित्त का है और उसमें प्रत्येक और साधारण दोनों प्रकार की वनस्पतियां परिगणित की गई हैं। दशवैकालिक सूत्र का पाठ है— "कंद मूलं पलम्बं वा आमं छिन्नं च सन्निरं। तुम्बागं सिंगबेरं च आमगं परिवज्जए॥" अहिंसा-व्रती साधु कंद, मूल, केला, घीया, अदरक सचित्त हो तो ग्रहण न करें। भगवती में जमाली के माता-पिता मुनि-चर्या की कठिनता के प्रसंग में कहते हैं कि साधु कन्द, मूल, बीज, हरित-फल का आहार नहीं लेते।

आइये जरा, साधारण वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति की संवेदना के विषय को लें, क्योंकि संवेदनशीलता ही जैन धर्मानुसार अहिंसा और हिंसा का मूल आधार मानी गई है। यदि एक पानी के पात्र में मक्खी या कीड़ी पड़ी है तो धार्मिक, दयावान् व्यक्ति असंख्य जीवों की तुलना

में एक मक्खी या कीड़ी को बचाना चाहेगा क्योंकि एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चउरिन्द्रिय तथा चउरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव की शारीरिक विकास शक्ति, चेतना सामर्थ्य एवं संवेदना अधिक अधिकतर होती है। उसी तरह साधारण वनस्पति की अपेक्षा प्रत्येक वनस्पति के जीवों की चेतना एवं संवेदना बहुत अधिक होती है।

साधारण वनस्पति के अनन्त जीवों के पुण्य से प्रत्येक वनस्पति के एक जीव का पुण्य ही अनन्त गुणा होता है। यहां पुण्य का अर्थ जीवन शक्ति का विकास है। देवगति के जीव काल करके साधारण वनस्पति में पैदा नहीं हो सकते। वे प्रत्येक में ही पैदा होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या की संभावना प्रत्येक में है, साधारण में नहीं। कर्मग्रन्थों के अनुसार वनस्पति में जो दूसरा गुणस्थान माना है वह भी प्रत्येक को ध्यान में रखकर है न कि साधारण वनस्पति को। आगम और कर्मग्रंथों का विश्लेषण परक अध्ययन करने वालों का निष्कर्ष है कि साधारण और प्रत्येक वनस्पति में मात्रात्मक ही नहीं गुणात्मक अन्तर भी है, क्योंकि साधारण नामकर्म को पाप-प्रकृतियों में तथा प्रत्येक नामकर्म को पुण्य-प्रकृतियों में परिगणित किया गया है। त्रस जीवों की तुलना में स्थावर जीव, बादर की अपेक्षा सूक्ष्म जीव, पर्याप्त जीवों के समक्ष अपर्याप्त जीव जिस तरह मौलिक रूप से भिन्न हैं उसी प्रकार प्रत्येक की तुलना में साधारण जीव भी मौलिक रूप से भिन्न हैं। उनमें पुण्य का अल्प-बहुत्व न होकर पुण्य-पाप का अन्तर होता है। और यह अन्तर बहुत बड़ा अन्तर है।

वैज्ञानिकों ने वनस्पति में जीवन माना है और जिनके प्रमाणों को अधिकांश जैन उद्धृत करते हैं। उन्होंने भी सारे प्रयोग प्रत्येक वनस्पति पर किए हैं। साधारण वनस्पति की संवेदना उनके यंत्रों में झलक नहीं सकती क्योंकि वहां पर चेतना का इतना अल्प विकास होता है कि उन्हें निर्जीव तो नहीं पर निर्जीव प्रायः ही कहा जा सकता है।

एक हरा पत्ता पर्यावरण के लिए जितना उपयोगी है उतने जमीकंद के सैकड़ों फल आदि भी नहीं। एक व्यक्ति यदि अपने भोजन के लिए प्रत्येक वनस्पति के दो-चार पत्तों को खाता है तो उसने पर्यावरण की ज्यादा हानि पहुंचाई है जबकि जमीकंद आदि के प्रयोग से पर्यावरण को विशेष क्षति नहीं पहुंचती क्योंकि आक्सीजन विसर्जन हरे पौधे और पत्तों से होता है। पौधों से जो आक्सीजन पर्यावरण को मिलती है उससे लाखों अन्य प्राणी जीवित रहते हैं। प्रत्येक वनस्पति के उपजीव्य जीव ज्यादा हैं और साधारण के बहुत कम; इसीलिए प्रत्येक वनस्पति की हिंसा में अन्य त्रस जीवों की अधिक हिंसा भी छिपी रहती है। अनन्त कायिक (साधारण वनस्पति) के अधिक प्रचलित खाद्य पदार्थ— आलू के उत्पादन में पानी का अन्य सभी खाद्यान्नों, फलों की तुलना में अल्पतम खर्चा होता है, अर्थात् इसके उपयोग में पानी के जीवों की पारम्परिक (Indirect) हिंसा सबसे कम है।

यह एक अन्य पहलू है कि मानव शरीर के लिए प्रत्येक वनस्पति में अधिक पोषक तत्त्व हैं, साधारण वनस्पति में कम। साधारण वनस्पति में सूर्य आदि के सम्पर्क का अभाव होने से Photo Synthesis आदि की प्रक्रिया नहीं होती। विटामिन-प्रोटीन आदि कम उत्पन्न होते हैं। इसीलिए डॉक्टर भी सामान्य जनता को प्रत्येक वनस्पति के फल अधिक बताते हैं और आलू आदि जमीकंद कम, पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी जमीकंद वाली सब्जियां अधिक सस्ती होती हैं और प्रत्येक वनस्पति वाली महंगी।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर प्रत्येक वनस्पति साधारण से ज्यादा उपयोगी और अनन्त पुण्याधिक सिद्ध होती है लेकिन फिर भी यहां मुख्य प्रसंग अहिंसा की न्यूनाधिकता का है, न कि शारीरिक लाभ-हानि या मूल्यों की कमी-बेशी का।

यह तथ्य विचारणीय है कि भगवान् महावीर स्वामी ने श्रावक के लिए 15 कर्मादानों का निषेध किया है जिनमें वन-कर्म एक मुख्य कर्मादान है। विश्व के सभी जंगल काट दिए जाएं, सारा अन्न खा लिया

जाए, सम्पूर्ण पहाड़ और भूमियां खोद दी जाएं तो भी आलू के सूई जितने भाग के खाने से जितने जीव मरेंगे उतने पूर्वोक्त क्रियाओं में नहीं मरेंगे। तो क्या कोई प्ररूपणा कर सकता है कि 15 कर्मादानों में इतना पाप नहीं है जितना जमीकंद खाने में? यदि वीतराग देवों को ऐसा सिद्धान्त अभीष्ट होता तो सर्वप्रथम यही नियम बनाते कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप धर्म को वही व्यक्ति स्वीकार करे जो जीवन-पर्यन्त जमींकद का स्पर्श भी न करे।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययन एक के उद्देशे आठ में अशस्त्र परिणत वस्तुओं की सूची दी है जो ग्रहण करने योग्य नहीं है। जिसमें शालूक, विरालिका, सर्षप नालिका, पिप्पली, मिर्च, अदरक, आम प्रलम्ब, आम्रातक, ताल सुरभि आदि के प्रलम्ब तथा अश्वत्थ न्यग्रोध सल्लकी के प्रवाल, कुछ सरटू (कपित्थका, दाडिमका बिल्वका) तथा कुछ मंथू का वर्णन है, ये अप्रासुक सचित्त हों तो न लें, ये प्रासुक एषणीय हों, तो ग्राह्य हैं। इनमें शालूक (कमलकंद) व अदरक का उल्लेख स्पष्टतः अनन्तकायिक प्रयोग के निषेध का खण्डन करता है। उससे अगले पाठों में सिंघाड़े का, भिस का, भिस मृणाल का तदन्तर अग्रबीज और मूल-बीजों का, मूल जातों का तथा लशुन-पत्र, लशुनकंद, लशुन-चोयक का वर्णन है। ये सब पाठ अचित्त अनन्तकाय की ग्राह्यता की ओर संकेत करते हैं।

सातवें अध्ययन के उद्देशक दो में मुनि के लिए कहा है कि आम्र इक्षु तथा लहशुन के अंश यदि सचित्त अप्रासुक हो तो न ले तथा अचित्त प्रासुक हो तो ले सकते हैं। पाठ निम्नांकित है– "से भिक्खु से जं पुण जाणेज्जा... लहसुणं वा, लहसुण कंदं वा, लहसुण चोयंग वा, लहसुण नालगं वा... तिरिच्छि छिन्नं, वुच्छिन्नं फासुयं पडिगाहिज्जा॥"

किसी-2 सम्प्रदाय में जमीकंद के त्यागी और अत्यागी दोनों तरह के साधु-साध्वी होते हैं। जो त्यागी हैं उनका त्याग संतोष और तप की दृष्टि से तो उच्चतर माना जा सकता है पर अहिंसा की दृष्टि से दोनों मुनियों

के त्याग में कुछ अन्तर पड़ता हो, ऐसा नहीं है क्योंकि दोनों मुनि नवकोटि शुद्ध अचित्त आहार लाए हैं। ऐसा तो नहीं माना जा सकता कि साधारण वनस्पति का अचित्त भोजन करने वाला मुनि गृहस्थ कृत हिंसा का अधिक उत्तरदायी है, प्रत्येक वनस्पति का आहार करने वाला कम।

रही बात अनन्त-कायिक पदार्थों के त्याग करने वाले साधु या श्रावकों की, वह भी विचित्र-सी स्थिति है क्योंकि पूर्णतः अनन्त-कायिक वनस्पति का त्यागी कोई नहीं है। प्रत्येक वनस्पति में जहां-2 अवान्तर शाखा का उद्गम होता है वहां-2 वह स्थल अनन्त-कायिक हो जाता है। "उग्गममाणे अणंते"— ऐसा आगम का पाठ है। उदाहरण के तौर पर सरसों का साग लें— उसमें स्थल-2 पर नया अंकुरण है और वह स्थल अनन्त जीवों का उत्पत्ति स्थान है, भीगे हुए बादाम में, चने, गेहूं, मूंग की तरह अंकुरण होता है और भीगे हुए बादाम को पीसकर दूध आदि में प्रायः अनन्तकाय के त्यागी लेते हैं।

फिर जमीकंद के त्यागी हल्दी और अदरक का आगार रखते हैं। जब अनन्तानन्त जीवों को खा ही रहे हैं तो एक-दो पर जोर देना विसंगति का सूचक है। पाप है तो इन दो की भी छूट क्यों रखी जाए? कई स्थानों पर त्याग हास्यास्पद स्थिति में पहुंच जाता है— जैसे आलू के त्यागी आलू के चिप्स या पुरानी आलू की मंगोड़ी खाते हैं, यह कहकर कि ये अब अनन्तकायिक नहीं रहे। कुछ दिनों के बाद गाजर की कांजी या अचार को भी ग्राह्यता की कोटि में रख दिया जाता है उनके तर्क पर एक प्रति तर्क यह है कि उबलने के बाद जो आलू-गाजर की सब्जी खाई जाती है क्या वह सचित्त रह गई जो उसे अनन्तकायिक कहा जा रहा है।

जहां तक श्रावकों द्वारा जमीकंद खाने के त्याग की बात है वह भी अहिंसा की दृष्टि से ज्यादा उच्च नहीं जंचती क्योंकि गृहस्थ आलू आदि खरीदता है, बेचता है, काटता है, औरों को परोसता है, बड़े-2 Cold Storage में रखता है, उनकी खेती करता है तो क्या खाने में

दो-चार आलू का त्याग करके हिंसा रुक गई? ये तो वही बात हो गई कि एक आदमी खुद अण्डा नहीं खाता पर पूरे पॉल्ट्री फार्म को चलाता है। होटल में उसका सेवन कराता है। क्या हम उसे बड़ा त्यागी कहें?

जमीकंद के विरोधियों की ओर से एक आगमिक संदर्भ इस विषय में उद्धृत किया जाता है जिससे वे अनन्तकाय की हिंसा को अधिक प्रमाणित करते हैं। छेद सूत्रों में वर्णन है कि साधु के आहार में भूल से प्रत्येक वनस्पति आ जाए तो उसे थोड़ा दण्ड आता है। साधारण वनस्पति आ जाए तो उसका दण्ड ज्यादा है। जमीकंद के त्याग के समर्थकों ने इस दण्ड को बहुत अधिक महत्व दिया है पर छेद सूत्रों में यह दण्ड व्यवस्था कोई संख्या पर आधारित नहीं है अपितु प्रमाद की अधिकता को लेकर की गई है। साधु अपनी भिक्षा लेते समय यदि ये भी गौर न करे कि गृह्यमाण वस्तु पर नीलन-फूलन लग गई है, फूई-फंफूद जम गई है और उस वस्तु को ले आए तो उसका दण्ड ज्यादा है जबकि शाक आदि में अपक्व वनस्पति का टुकड़ा आ जाए तो उसका दण्ड अल्प है। ये अर्थ हमें अर्थापत्ति से निकालना होगा। ऐसे ही अन्य प्रसंग हैं कि मुनिराज विहार यात्रा में हैं, एक ओर प्रत्येक वनस्पति है, दूसरी और अनन्त-कायिक है तो प्रत्येक पर पैर रखकर अनन्त-काय को बचाए। इस प्रसंग में भी विचारणीय ये है कि एक ओर काई है और दूसरी ओर घास है। घास के जीवों के शरीर काई की तुलना में कुछ न कुछ अधिक सक्षम हैं, वे पैर के भार से कुछ मरें, कुछ बचें, दोनों ही संभावनाएं हैं जबकि काई के जीवों का शरीर बहुत मुलायम, चिकना एवं भार सहने में असमर्थ है, वह शीघ्र मरेगा। अतः 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः'– ये सिद्धान्त यहां लागू होगा। किसी क्रिया का जो भी दण्ड छेद-सूत्रों में लिखा है वह किसी भी क्रिया का विधान और निषेध नहीं कर सकता क्योंकि छेद-सूत्रों में कई स्थलों पर अत्यल्प दोष पर कड़ा दण्ड है तो कहीं महान दोष पर अत्यल्प दण्ड लिखा है। निशीथ के 18 उद्देश्य में वर्णन है कि अनर्थ में (बिना जरूरत के) नौका की सवारी, नौका को पानी के अन्दर से बाहर लाने, नौका

में से पानी निकालने आदि 20-25 क्रियाओं पर "लघु चौमासी" दण्ड है और राजा के पशु-पालकों से आहार लेने में "गुरु चौमासी" दण्ड लिखा है। निशीथ के 9 उद्देशक में लिखा है कि राजा की सवारी देखने के लिए एक कदम भी बढ़ाए तो "गुरु चौमासी" और चित्रशालाएं, झरने, वन सौन्दर्य, गांव के मेले, ग्रामवध, ग्रामदाह, अश्व आदि के युद्ध, नाटक नृत्य, महायुद्ध देखने के लिए कहीं जाए तो "लघु चौमासी" का दण्ड आता है, तो क्या एक में पाप ज्यादा और इन सबमें पाप कम लगता है, जो दण्ड भिन्नता की गई है। छेद सूत्र में वर्णन आया है कि सुई को अविधि से लौटाएं तो "गुरु चौमासी" का दण्ड तथा प्रतिहार्य वस्तु बिना लौटाए विहार कर जायें तो "लघु चौमासी" का दण्ड है तो क्या हम कल्पना करलें कि दोष की गम्भीरता पहले में ज्यादा है और दूसरे में कम है? ऐसे ही अन्य स्थान पर वर्णन है कि पनग आदि पर शौच जाने का दण्ड "लघु मासी" और सूने घर में शौच जाने पर "लघु चौमासी" का दण्ड आता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जो कि आचार्यों ने दण्ड के विषय में दिए हैं पर वे किसी भी घटना के लिए शत-प्रतिशत दोष की गंभीरता की न्यूनाधिकता का प्रमाण नहीं बन सकते और फिर निशीथ सूत्र में ही पिप्पली, अदरक को पिछले दिन का लेने का दण्ड निषेध किया है, तत्कालीन का नहीं।

निशीथ सूत्र के ही 11वें उद्देशक में वर्णन है कि आधे योजन से दूर से पात्र लाएं तो "गुरु चौमासी" का दण्ड और 12वें उद्देशक में कहा है कि आधे योजन से दूर से आहार लावें तो "लघु चौमासी" का दण्ड। इससे क्या सिद्ध होता है? निशीथ के ही 14 वें उद्देशक में स्पष्ट पाठ है कि पात्र से पृथ्वी, जल, कंद, मूल, पत्र, पुष्पादि निकाल कर लें तो समान दण्ड हैं, कम-ज्यादा नहीं। क्या इस प्रक्रिया में कंदमूल की ज्यादा विराधना नहीं होती? इसी में 12वें उद्देशक में पांच स्थावर-कायों की विराधना का एक ही दण्ड लिखा है। वहां वनस्पति का विभाजन नहीं लिखा कि साधारण की विराधना में ज्यादा और प्रत्येक की विराधना में कम दण्ड। ऐसे ही निशीथ सूत्र में वर्णन है कि सचित्त स्थान पर जहां

अण्डे, बीज, हरियाली, काई है वहां शौच जाएं तो "लघु मासी" और वस्त्र-पात्र सुखा दें तो "लघु चौमासी" का दण्ड। तो क्या प्रथम क्रिया में दूसरी क्रिया से कम हिंसा है? कहने का अभिप्राय यह है कि छेद सूत्र इस बात के निर्णायक नहीं हो सकते कि साधारण वनस्पति की हिंसा प्रत्येक से ज्यादा है, केवल एक ही जगह पर 'अनन्तकाय संजुत्त' के पाठ को हम निर्णायक नहीं मान सकते जबकि इसके विरोधी पाठ कदम-2 पर मिल रहे है; इसीलिए इस पाठ को हम 'विचित्रा सूत्राणां गतिः' कहकर ही समझें तो बेहतर है। कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि आगमों में साधारण और प्रत्येक वनस्पति जीवों की वेदना में अन्तर नहीं बताया अपितु वनस्पति मात्र की वेदना को एक ही श्रेणी में रखा है परन्तु दोनों को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत लाने से वे पूर्णतः समान चेतना के अधिकारी नहीं बन जाते जबकि अन्य स्थलों से उनकी चैतन्य शक्ति स्पष्टतः भिन्न प्रमाणित होती है। आगमों में तो कई स्थल ऐसे भी है जहां एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय तथा अन्य विकसित जीवों की वेदना भी एक सरीखी बताई गई है, उदाहरण के तौर पर प्रज्ञापना के 35वें पद में वर्णन है कि सभी एकेन्द्रियों की, विकलेन्द्रियों की तथा असंज्ञी तिर्यंच मनुष्यों की, यहां तक कि मिथ्यात्वी देवताओं की भी वेदना 'अनिदा वेदना' होती है तो क्या इन सबकी अनिदा वेदना को समान ही माना जाएगा? कदापि नहीं। एकेन्द्रियों से विकलेन्द्रियों की वेदना तथा उससे असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय की वेदना अधिक होती है। इसी न्याय से सूक्ष्म से बादर की तथा साधारण से प्रत्येक की वेदना भी अधिक माननी चाहिए। इसी तरह भगवती के शतक 7, उद्देशक 7, सूत्र 24 के अनुसार सभी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी जीव 'अकाय निकरण' वेदना वेदते हैं पर उनमें अल्प-बहुत्व का वर्णन नहीं है पर ये वर्णन न होने से ये अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि सबकी समान ही वेदना होती है। यदि एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय की वेदना ज्यादा है तो इसी प्रमाण से साधारण से प्रत्येक की वेदना भी ज्यादा है। प्रज्ञापना के 8वें पद में संज्ञाओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि– चौबीस दण्डकों में चारों

संज्ञाएं होती है पर तिर्यंचों में आहार संज्ञा कुछ अधिक होती है। अब प्रश्न ये है कि क्या एकेन्द्रियों से विकलेन्द्रियों की और विकलेन्द्रियों से पंचेन्द्रिय जीवों में समान ही आहार संज्ञा होती है, उत्तर यही होगा कि इनमें काफी अन्तर होता है। जिसमें जितना उपयोग, शारीरिक सामर्थ्य कम होता है, उसकी संज्ञा कम, जिसका जितना उपयोग, शरीर-सामर्थ्य अधिक होता है, उसकी आहार संज्ञा भी अधिक होती है। साधारण और प्रत्येक के सम्बंध में भी यही जानना चाहिए।

कुछ जैन चिन्तकों में ये भी धारणा है कि एकेन्द्रिय जीवों को (प्रत्येक-साधारण सहित सभी को) मनुष्य जैसे विकसित और संवेदनाशील प्राणी के बराबर ही पीड़ा का अनुभव होता है और आचारांग तथा भगवती सूत्र के कुछ पाठों का उद्धरण देते हैं, इस विषय की समुचित समीक्षा भी जरूरी है।

उदाहरणार्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के पाठ का अर्थ जैसा प्रचलित है वैसा अर्थ मूल पाठ से कथमपि ध्वनित नहीं होता है— 'अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे' वाले पाठ में पहले अंध का छेदन-भेदन वर्णित है, फिर पाद, गुल्फ, जंघा, जानु, उरु, कटि, नाभि, पार्श्व, उदर, पीठ, छाती का वर्णन करते-2 मस्तक सिर के छेदन-भेदन का वर्णन है, यहां कहीं नहीं लिखा है कि पृथ्वीकाय आदि की वेदना अंधे-बहरे-गूंगे के समान होती है। यहां तो सर्वप्रथम 'अंध' शब्द के द्वारा पैरों के अधोभाग का छेदन-भेदन लिखा है। फिर शेष मानव के एक-2 अंग का छेदन-भेदन। इस आगम पाठ के दो अर्थ संभावित है— 1. हिंसक जीव अन्य प्राणियों के पैर के अधोवर्ती भाग से लेकर शीर्ष तक के सभी भागों का छेदन-भेदन करता रहता है।

2. पूर्व में किए गए हिंसा-पूर्ण कार्यों का फल जीवों को उत्तरकाल में ये मिलता है कि उसको अपने पैर के अधोभाग से शीर्ष पर्यन्त अंगों का छेदन-भेदन सहना पड़ता है।

यहां 'अंध' शब्द को समझलें, यह संस्कृत शब्द अधस् (निचला भाग) का प्राकृत रूप है। जैसे—वक्र को वंक, दर्शन को दंसण, त्र्यस्र को तंस, पृथक् को पिधं, पुधं आदि शब्दों में अनुस्वार का आगम कर दिया है ऐसे ही 'अधस्' शब्द में अनुस्वार आगम करके 'अंध' शब्द बनता है। अथवा 'अंघ्रि' शब्द चरण का वाचक है— इस शब्द से भी अंध शब्द की उत्पत्ति संभव है। यदि प्रचलित अर्थ के अनुसार स्थावरों की पीड़ा अंधे-गूंगों की तरह मान लें तो फिर श्रावकों को पंचेन्द्रिय जीवों को मारने का पाप लगेगा। जब आगमों की हर व्याख्या साधारण जीवों को प्रत्येक की तुलना में बहुत निम्न स्तर का सिद्ध कर रही है तो क्या ये सब आगम-पाठों का दुरुपयोग नहीं है जो दोनों की चेतना को बराबर प्रमाणित किया जा रहा है।

एक प्रश्न कौंध सकता है कि जैन-परम्परा में अनन्तकाय के भक्षण के निषेध का इतिहास तो पुराना है पर यह क्यों शुरू हुआ? इसका समाधान यह है कि सनातन धर्म के ऋषि प्रायः कन्दमूल का भक्षण करते थे, उनके विरोध में गौशालक ने इनका सेवन वर्जित किया। जमीन खोदना, बैलों को नाथ डालना, हल चलाना, यहां तक कि जमीन से निकलने वाले लहसुन और प्याज आदि कंद-मूल तक को भी अभक्ष्य घोषित कर दिया और उसके इस प्रचार का जैन धर्मावलम्बियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि ये सोचा जाने लगा कि जब गौशालक के अनुयायी भी जमीकंद नहीं खाते तो फिर हमें भी त्याग रखना चाहिए।[1] फिर क्रमशः यह भोजन परम्परा जैनत्व का अभिन्न अंग बन गई। हमारे धर्म का मौलिक-रूप न होते हुए भी इसे मौलिक से ज्यादा मान्यता मिल गई। यह एक प्रतिक्रिया (Reactionary) जन्य अपनाया हुआ रिवाज है न कि आगमिक विधि निषेध का स्पष्ट परिणाम। वस्तुतः हिंसा और

1 भगवती शतक 8, उद्देशक 5 में जैन श्रावकों की आजीविका में कर्मादान के त्याग के महत्व को प्रतिपादित किया है। साथ ही गोशालक के श्रावकों की आजीविका और आहार शैली का उल्लेख है। वहां लहसुन और प्याज इन दो कन्दों को अभक्ष्य बताया है।

अहिंसा को नापने के लिए संख्या बहुत ही कमजोर तथा अप्रमाणिक मापदण्ड है; अहिंसा के स्वरूप निर्धारण में तीन करण तीन योग, क्रूरता, दयालुता, म्रियमाण जीव की इन्द्रिय शक्ति, पर्याप्ति, प्राण, संकल्प पूर्वकता, आरम्भ-मात्र जन्यता, सापराधकता-निरपराधकता, परिणामों में हिंसा की वृद्धि और कमी, सैकड़ों पहलू ऐसे होते हैं जो निर्धारण करते हैं कि यह हिंसा अनुचित है या उचित, ज्यादा है या कम, अप्रासंगिक है या प्रासंगिक।

पहले गुजरात के अलावा भारत की कोई भी सम्प्रदाय ऐसी नहीं थी जो जमीकंद का प्रयोग नहीं करती थी या जिसके प्रत्येक साधु-साध्वी सम्पूर्ण रूप से जमीकंद के त्यागी हो। तथा आज भी ऐसी कोई सम्प्रदाय नहीं है। हां आजकल एक-दूसरे के प्रभाव में आकर कैसी भी प्ररूपणा करदें पर वास्तविकता से सभी सम्प्रदाय परिचित हैं। अन्त में छोटी-सी उपमा प्रस्तुत है—

एक व्यक्ति ने जरा-सी चिंगारी जलाई, दूसरे ने विशाल अग्निपुंज बुझाया, जीवों की संख्या की दृष्टि से पहले ने कम जीव अपने हाथ से मारे व दूसरे ने ज्यादा मारे, पर आगम ने पहले को अधिक आरम्भी माना तथा दूसरे को अल्पारम्भी माना। कारण स्पष्ट है कि पहली क्रिया से विध्वंस बढ़ता है, दूसरी से रुकता है। इस तरह प्रत्येक वनस्पति के अधिक प्रयोग से प्रकृति और पर्यावरण की जीवन शृंखला ज्यादा टूटती है जबकि साधारण से कम।

पुनः एक बात सूचित करना आवश्यक है कि लेखक का लक्ष्य किसी जमीकंद के खाने वाले का समर्थन नहीं है, न ही उनसे बने व्यजनों का स्वाद ही लुभाता है। जमीकंद के प्रयोग करने वाले ऐसे-2 मुनिराज हैं जो मिठाई, नमकीन, मेवा, मुरब्बा, खीर, हलवा, घी आदि विविध स्वादु पदार्थों के परिपूर्ण त्यागी होते हैं। वस्तु का त्याग या अत्याग महत्व पूर्ण नहीं है, महत्त्व केवल इस बात का है कि किसी एक मुद्दे को भावुक बनाकर सामान्य-जन को गुमराह न किया जाए, न ही उसकी निगाह में

संत-सतियों को शिथिलाचारी आदि की धारणा दी जाए, न ये जैनत्व की पहचान बना दी जाए। किसी भी वस्तु का त्याग हमें आनंद देता है पर यह हीनता और उच्चता की ग्रंथि का निर्माण न करे।

जमीकंद के त्याग को हम संतोष व तपस्या की दृष्टि से बड़ा मान सकते हैं पर अहिंसा की दृष्टि से बड़ा नहीं जंचता।

प्रासुक पानी की एक विधि जो अनागमिक और हिंसावर्धक है

जैन मुनियों की कठोर जीवन चर्या के प्रमुख नियमों में एक नियम अचित्त एवं एषणीय पानी का ग्रहण रहा है। पानी की अचित्तता के संबंध में आचारांग सूत्र में अच्छा विवेचन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययन प्रथम उद्देशक 7 व 8 में 21 प्रकार के धोवन पानी का संकेत है परंतु वर्तमान युग में कुछ वर्षों से पोचे का पानी आगम सम्मत कहकर लेने की परम्परा कहीं-2 देखने में आई है। उस पानी को ग्रहण करने के पीछे सदाशय तो यही है कि बड़े-बड़े शहरों में बर्तनों के धोवन की अल्पोपलब्धि होने लगी और औद्देशिक जल ग्रहण करने से संयम में विराधना होती है, परंतु जिस अचित्तता और निरुद्देश्यता को लक्ष्य करके यह परम्परा चालू की गई है और उसे आगम सम्मत कहा गया है, यह परम्परा उस लक्ष्य को पूरा भी करती है या नहीं तथा आगम सम्मत भी है या नहीं। ये दो चार बातें स्पष्ट करनी जरूरी हैं।

आचारांग में उत्स्वेदिम, संस्वेदिम, चाउलोदग, गर्म पानी, छाछ के उतरे पानी के अलावा 15-16 प्रकार के फलों के पानक को ग्राह्य बताया है तथा साथ ही साथ ये कहा है कि इसी प्रकार किसी और फल का पानक भी हो तो वह भी ग्राह्य है। 'अन्य किसी प्रकार' शब्द से पोचे का पानी ग्रहण करना शास्त्र के अर्थ का मनमानापन है। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि 'पानक' शब्द यहां धोवन का वाचक नहीं लेना चाहिए, अपितु इन फलों के रस के मिश्रण से तैयार पेय पदार्थ (शर्बत) का वाचक लेना चाहिए। जैसे आजकल नींबू पानी, शिकंजवी का प्रचलन है, उसी तरह अन्य स्थान या काल में नाना प्रकार के फलों का पानक तैयार होता हो तो ग्राह्य है। केवल फलों को धोकर शेष बचे पानी को ग्रहण करने योग्य नहीं कहना चाहिए। सचित्त पानी को

अचित्त पानी बनाने के लिए कुछ विधियां प्रयुक्त हुई हैं जैसे फलों का रस मिलाना, अग्नि से गर्म करना, दूध के बर्तन धोना, आटे के बर्तन का धोवन, ईट या मिट्टी के कसोरे (सकोरे) आदि का धोवन और राख से मंजे बर्तनों का धोवन। इनमें से बर्तनों के धोवन के अलावा बाकी धोवन पानी को शास्त्रीय प्रामाणिकता मिली हुई है। परंतु राख द्वारा बने पानी को मान्यता मिलने के पीछे कारण ये रहा है कि दीर्घदर्शी आचार्यों ने अग्नि के साथ अग्नि के 'मुकेलकों' को भी पानी के लिए शस्त्र मान लिया जो कि उचित भी है क्योंकि राख एक ऐसा तत्व है जो पानी के वर्ण को तो बदलता ही है, साथ ही साथ कुछ समय में पानी की शुद्धि भी कर देता है। मिट्टी धूल आदि में वो क्षमता नहीं है।

पानी में पानी से विरुद्ध अन्य तत्व मिट्टी आदि मिल जाये तो वह अप्कायिक जीवों के लिए भले ही शस्त्र बन जाए परंतु अन्य त्रस जीवों के लिये उपयुक्त योनि बन जाता है। वहां अति शीघ्र ही सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति होनी शुरु हो जाती है। यहां तक कि दूध का पानी, आटे का पानी भी कुछ ही घंटों बाद अपेय हो जाता है, क्योंकि उसमें सूक्ष्म जीव पैदा हो जाते हैं और वह पानी दुर्गन्धित हो जाता है। अतः इन जलों को तत्काल पीना हो तो लिया जा सकता है पर देर तक नहीं रखना चाहिए। कई जैन परम्पराओं में पानी के संबंध में इस बात पर जोर दिया गया कि उसका वर्ण-गंध-रस-स्पर्श परिवर्तित होना चाहिए ताकि वहां अप्कायिक जीव न रहें पर इस विषय में एक बड़ी भारी उपेक्षा की जा रही है कि उस पानी में त्रस जीव हैं या नहीं। सुनते हैं कि पहले प्रासुक पानी छानने के बाद छलना-परणा-गालन वस्त्र पर बड़े बारीक जलज त्रस जीव पाए जाते थे और उन्हें मामूली से पानी में निकाल कर सरोवर आदि के आर्द्र प्रदेश में छोड़ दिया जाता था। जो गालन वस्त्र की सतह पर रह गए, उनकी तो यतना से रक्षा कर दी गई पर जो उनसे भी सूक्ष्म जीव छानने के बावजूद अपनी सूक्ष्म अवगाहना के कारण पानी के अंदर ही रह गए, उन त्रस जीवों का क्या होता होगा?

और इससे भी ज्यादा लापरवाही पोचे के पानी में बरती जा रही है। पोचे के पानी में तो न केवल जलज त्रस जीव ही पैदा हो सकते है बल्कि सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय मनुष्य तक पैदा हो सकते हैं। एकेन्द्रिय को बचाने के प्रयास में कहीं हम विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव युक्त जल लेने के अपराधी तो नहीं बन जाएंगे? जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि आजकल हमारी गलियों व सड़कों की क्या स्थिति है? आदमी जब भी जूते पहनकर या नंगे पांव उन गंदी गलियों व सड़कों से गुजरते हैं तब मानवीय अशुचि का कुछ न कुछ सम्पर्क अक्सर हो ही जाता है फिर वही मानवीय अशुचि जूते या पांव के माध्यम से घर के फर्शों पर आ जाती है। जैसे ही उसे गीले पोचे का स्पर्श मिल जाता है वो आर्द्र होकर सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति का निमित्त बन जाती है। वैसे भी घरों में बच्चों का मल मूत्र कहीं न कहीं छिटक ही जाता है। बड़े बूढ़े समझदार व्यक्ति भी अपनी नासिका के शुष्क श्लेष्म (Mucus) को फर्श पर डाल ही देते हैं, जो कि पानी का संयोग पाते ही सजीव हो उठता है।

संसार में पानी एकमात्र ऐसा पदार्थ है जो जीवोत्पत्ति का सबसे अनुकूल कारण बनता है और बाल्टी टब आदि में ठहरा हुआ पानी तो सम्मूर्च्छिम जीवों के लिए ज्यादा ही सहयोगी बनता है। नदियों का बहता पानी शायद अशुचि पदार्थों की अशुचिता को छिन्न भिन्न करके खण्डित भी कर दे पर ठहरा हुआ पानी ऐसा कदापि नहीं कर सकता। प्राचीन आचार्यों ने तो तालाब या झील में नारी जाति को निर्वस्त्र होकर स्नान करने का स्पष्ट निषेध भी इसी आधार पर कर दिया कि कहीं उस विस्तृत सरोवर में पुरुष वीर्य का सम्पर्क पाकर नारी सगर्भा न हो जाए। अतः बाल्टी टब आदि में रखे पानी में मानवीय अशुचि से लिप्त पोचे के सम्पर्क से सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति की प्रबलतम सम्भावना है।

चौदह अशुचि स्थानों में चौदहवां बोल है "अण्णयरेसु असुइ ठाणेसु" यानि इस तरह के अन्य किसी भी अशुचि स्थान में सम्मूर्च्छिम जीव पैदा हो सकते हैं। पोचे का पानी स्पष्टतः अशुचिस्थान है और सम्मूर्च्छिम जीवों का उत्पत्ति स्थल है। जैन मुनि की अहिंसा इतनी सूक्ष्म होती है कि वह अचित्त वस्तु को सचित्त की सम्भावना मात्र से भी प्रयोग नहीं करता फिर ऐसे त्रस जीव सम्पन्न जल को कैसे स्वीकार करेगा?

सर्दी तथा वर्षा के मौसम में तो घरों में पोचे पूरी तरह सूख भी नहीं पाते और उनमें नीलन-फूलन की पूरी तरह से सम्भावना रहती है। उसी अनन्तकाय से सने पोचे का पानी अचित्त हो जाता होगा, यह कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति कैसे सोच सकता है?

घरों में फर्शों पर कीड़ी कुंथुए आदि भी पर्याप्त मात्रा में होते हैं अतः उनके मृत कलेवर भी उस पानी में अवश्य आ सकते हैं और उस पानी में रहे मृत कलेवरों में अन्य जीवोत्पत्ति भी संभव है। अतः एक अहिंसा धर्मी मुनि ऐसा पानी ले ये समझ से परे है।

एक अन्य पहलू से भी इस पोचे के पानी को मान्य किया है कि इसके ग्रहण से निमित्त दोष का बचाव हो जाता है पर वह निमित्त दोष भी बचना संभव नहीं है। सर्वप्रथम तो जिस घर से एक दिन सहज भाव से पोचे का पानी मिल गया और उस घर से अगले दिन पुनः मिलता है तो ज्यादा तो यही सम्भावित है कि उस घर के श्रावक को उस मुनि की जरूरत का विशेष ध्यान रखना पड़ेगा। पोचा लगाने के लिए साफ से कमरों का चयन करना पड़ेगा। समय से पहले ही पोचा लगाना पड़ेगा। एक औपचारिकता पूरी करके उस दुगन्धित जल को शायद अनिच्छा से ही एक तरफ रखना पड़ेगा। दिन निकलते ही जो साधु-साध्वी पोचे का धोवन ले आते हैं, क्या उन्हें कभी ध्यान आता है कि इतनी जल्दी पोचा किस घर में लगता है। एक अन्य तथ्य ये भी है कि जैसे गृहस्थ सामान्य बर्तनों को राख की बजाए Vim से मांजने लगे हैं ऐसे ही वे

पोचा लगाने से पूर्व पानी में फिनाईल डालते हैं। साधु का ख्याल करके विम नहीं लगाना तथा राख से मांजना निमित्त दोष है तो फ़िनाईल न डालना और सामान्य पोचा ही लगाना भी निमित्त दोष है। क्योंकि साधु को देने का पूर्व भाव दोनों में है।

पोचे के पानी के समर्थकों का कहना है कि सुबुद्धि प्रधान ने गंदे पानी को स्वच्छ साफ करके बता दिया कि यह सब पुद्गल धर्म है। यह सत्यता सर्वथा स्वीकार्य है, परन्तु प्रश्न तो ये है कि क्या गंदे नाले का पानी अचित्त है तथा क्या उसे साधु ले सकता है? वह नाला तो फिर भी प्रवहमान है, जबकि बाल्टी का पानी तो ठहरा हुआ है। गंदे नाले का पानी भी अनेकानेक जीवों का ठिकाना है, भले ही उसका वर्ण गंध स्पर्श बदल गया है, पर इतने मात्र से ग्राह्य नहीं है। कई बार बरसाती नाले महीने-2 तक बिल्कुल पर्वतीय मिट्टी से भरपूर रहते हैं, क्षणभर के लिए भी उनकी मिट्टी नहीं बैठती। अगर कोई गृहस्थ उस पानी को साधु के लिए बहराना चाहे तो क्या साधु ले ले? गंदे नाले का पानी तथा मटमैली नदी का पानी यदि अग्राह्य है तो पोचे का पानी भी अग्राह्य है।

दशवैकालिक सूत्र में 5वें अध्ययन के पहले उद्देशक में 78वीं गाथा में उल्लिखित है किः

थोवमासायणट्ठाए हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चं बिलं पूयं, णालं तिण्हं विणित्तए ॥

जिस पानी को लेना हो अगर उसमें शंका की स्थिति हो तो पहले चख ले कि यह प्यास बुझाएगा या नहीं? जबकि पोचे का पानी तो उस स्थिति में चखने के भी लायक नहीं होता। फिटकरी आदि से साफ करके ही पेय बनने की योग्यता रखता है। संशोधन के बाद ही चखने लायक बनता है। अतः ये कहना कि रोग बढ़ाने वाला पानी पीने में कोई आपत्ति नहीं है; हठाग्रह के अलावा और कुछ भी नहीं है। साथ

ही साथ आगम पाठ की अवहेलना भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जैन मुनि को अहिंसा धर्म की रक्षा के लिए बहुत जागरूक होना चाहिए। पानी में जो सूक्ष्म जीव Microscope से दिखाई देते हैं, उनकी रक्षा का दायित्व भी मुनि के कंधों पर है। ये नहीं कि केवल वर्ण-गंध-रस-स्पर्श परिवर्तन की बात कहकर उसे एक दम ग्राह्य कह दें। और उसके ऊपर आगम का ठप्पा लगा दें।

पानी के विषय में यह तथ्य विशेष ध्यान रखने लायक है कि पानी में अन्य मैल प्रवेश करने पर स्थावर अप्कायिक जीव तो मर जाते हैं क्योंकि उन जीवों के जीने के लिए वह पानी सही नहीं रहा पर वहीं पर त्रस जीव तुरन्त उत्पन्न होने शुरु हो जाते हैं। जितना-जितना पानी स्वच्छ-मल रहित-फिल्टर होता जाता है उतना-उतना वह त्रस जीवों के जन्म के लिए अयोग्य हो जाता है, और स्थावर अपकायिक जीवों के लिए उपयुक्ततम योनि हो जाता है। आजकल के मिनरल वाटर बिसलेरी आदि के पानी की भी यही कहानी है कि वह पानी इतना स्वच्छ कर दिया गया है कि उसमें त्रस जीव (वैज्ञानिक भाषा में– Bacteria) का स्थान नहीं रहा पर अप्कायिक स्थावर जीवों के लिए सर्वोत्तम स्थान है। अतः वह पानी अचित्त कदापि नहीं कहला सकता। भले ही स्वास्थ्य विरोधी जीवों से रहित होने से वह गृहस्थों के लिए पेय हो पर त्यागी मुनियों व सचित्त जल के त्यागी श्रावकों के लिए वह पेय और स्पृश्य नहीं है।

यद्यपि राख से मंजे बर्तनों के धोवन के संबंध में ये कहा जा सकता है कि वह पानी मैला होने से त्रस जीवों की उत्पत्ति का स्थान बन सकता है पर राख की क्षमता व गुणधर्मिता की जांच करने पर यह पाया गया कि राख एक ऐसा तत्व है जो पानी में प्रविष्ट होकर त्रस जीवों को उत्पन्न नहीं होने देता, अपितु Anti-septic होने से वह त्रस जीव संरोधी भी है, क्योंकि Bleeding या जख्म वाले स्थान पर राख लगाने से वह घाव भरता भी है, Septic भी नहीं होता और राख वहां

पर कीटाणु पैदा नहीं होने देती। जल का वर्ण-गंध-रस-स्पर्श परिवर्तन करने में समर्थ होने के साथ-साथ राख स्थावर अप्कायिक जीवों के लिए भी शस्त्र है। राख के धोवन का पानी चखने पर भी बेस्वाद नहीं लगता और दुर्गन्धित भी नहीं होता।

अतः वर्तमान परिस्थितियों में राख के प्रयोग पर श्रावक-श्राविकाओं को ध्यान देना चाहिए, साथ ही साधु-साध्वियों को भी विवेक दिलाना चाहिए। अन्यथा पोचे का पानी लेने पर साधु तथा देने पर श्रावक महान् हिंसा के भागीदार होंगे। केवल वर्णादि परिवर्तन की बात कहकर स्वयं को और श्रावक वर्ग को अंधेरे में नहीं रखना चाहिए।

पुनश्चः

अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म में एक विशेषता ये रही कि यहां एकेन्द्रिय जीवों की सत्ता को स्वीकार किया गया। अन्य धर्मों में पृथ्वी जल अग्नि और वायु को भले ही देवता कहकर पूजनीय और पवित्र मान लिया हो परन्तु उन्हें जीवित नहीं माना। वनस्पति के जीवित होने की मान्यता अन्य धर्मों ने दी तो पर मन्द उत्साह के साथ। परन्तु स्थावरों को जीवित मानने की जैनों की यह विशेषता ही कहीं-कहीं दुर्बलता बन गई है। कारण कि इनकी सचित्तता अचित्तता के चाक्षुष और यांत्रिक प्रमाण तो छद्मस्थ मनुष्यों के पास होते नहीं तथा केवली भगवन्तों ने इनकी भेद रेखाएं बताई नहीं। उदाहरणार्थ आगमों में उल्लेख है कि पृथ्वी मूलतः सचित्त है, शस्त्र परिणत होने पर अचित्त है। लेकिन वे शस्त्र कौन से हैं– किस पृथ्वीकण को कितनी देर तक, किस विधि से अचित्त किया जा सकता है तथा कब वह पुनः सचित्त हो जाती है इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता। बाद के छद्मस्थ टीकाकारों ने अपनी-अपनी समझ या आवश्यकतानुसार कुछ-कुछ शस्त्र बता दिए पर उन सबकी प्रामाणिकता को सार्वकालिक सार्वदेशिक बनाने वाला सूत्र कभी नहीं मिला।

सबसे प्राचीन टीकाकार शीलांकाचार्य ने हल चलाने, कुदाली से फाड़ने, मृग के सींग से रगड़ने, लकड़ी से पीटने, मलमूत्र परठने से पृथ्वी का अचित्त हो जाना बताया है। किसी लेखक ने धूप से जमीन का आधा हाथ जितना भाग अचित्त होने की घोषणा की गई। किसी आचार्य ने नमक को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की प्रक्रिया में अचित्त होना मान लिया है। पशु की पीठ पर लदा हुआ नमक पशु के शरीर के तापमान से ही अचित्त हो जाता है ये धारणा भी चली है। जबकि आज की प्रचलित धारणा के अनुसार नमक सचित्त ही रहता है चाहे उसको कितना ही रगड़ दिया जाए। जो पत्थर घरों में धर्म स्थानों में लगाए जा रहे हैं, वे किस कारण अचित्त मान लिए जाते है तथा भाई बहनों की अंगूठियों में लगे हुए हीरे पन्ने या कोई भी Precious Stone क्यों सचित्त नहीं है, इन सब विषयों की अस्पष्टता का मुख्य कारण ये है कि सर्वज्ञ भगवन्तों ने एकेन्द्रियों की सचित्तता का प्रतिपादन तो कर दिया पर उनके अचित्त होने के प्रत्येक बिन्दु को स्पष्ट नहीं किया। और इसीलिए छद्मस्थों को खुला मैदान मिल गया। हजारों वर्षों से आजतक यह क्रम टूटा नहीं है कि कोई भी प्रतिभा संपन्न या आग्रहशील साधु-साध्वी नई विधि खोजता है तथा पृथ्वी पानी आदि के किसी रूप को सचित्त बता देता है किसी को अचित्त। पानी के संबंध में भी ऐसा हुआ है और हो रहा है। शीलांकाचार्य ने जल काय के शस्त्र बताते हुए कहा है—

उस्सिंचण गालण धोवणे य उवगरणं मत्तभण्डे य।
बायर आउकाये एयं तु समासओ सत्थं॥

कूएँ से जब मशक आदि द्वारा पानी निकाला जाता है, सघन वस्त्र से जब पानी छाना जाता है, वस्त्र मशक कड़ाही आदि जब धोए जाते हैं तब पानी शस्त्र परिणत हो जाता है।

1. प्रथम प्रश्न है कि क्या आचार्य शीलांक जैसे लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तित्व के निर्णय को स्वीकार किया जा सकता है? यदि नहीं तो इन 50-100 सालों के अन्दर निर्धारित किए गए अचित्त जल के निर्णय क्यों स्वीकारने योग्य हो सकते हैं। भाव ये है कि छद्मस्थों को ये अधिकार नहीं है कि आगम प्रमाण के अभाव में किसी जल को अचित्त घोषित करके ग्राह्य बतायें।

2. बर्तनों का धोया पानी, चूल्हे के पास रहने वाले मिट्टी के बर्तन, ठकनियां, कठौती, बेलन, बिलौनी, दूध के बर्तन आदि धोने का पानी प्रासुक मानने के पीछे "अदुवा वार धोयणं" वाला पाठ सहायक है पर पोचे के पानी के संबंध में ऐसा कोई आगम पाठ नहीं है।

3. पोचे के पानी में यदि एक बार संमूर्छिम जीव पैदा हो जाते हैं तो फिर जितनी देर वह बाल्टी आदि पात्र में पड़ा रहेगा उतनी देर तक जीवन मरण की प्रक्रिया चलती रहेगी। यही हिंसा वृद्धि है, यदि उस पानी का उचित स्थान पर विसर्जन हो जाए तो हिंसा रुक सकती है।

4. प्राचीन युग में भोजन के समय साधारण जल पीने का रिवाज कम था, पानी की जगह वे फलों से निर्मित पानकों का प्रयोग करते थे। घरों में विशाल मात्रा में पानक बनते थे, कुछ महीनों तक सुरक्षित रखे जाते थे, कुछ दैनिक प्रयोग के रूप में तैयार कर लिए जाते थे। कुछ पानकों को उपभोग्य बनाने में ही समय लगता था, कुछ पानक तत्काल प्रयोग में लिए जा सकते थे। जिन्हें अधिक समय लगता था उन्हें 'चिराधौत' तथा जो तत्काल प्रयोग में आते थे उन्हें अधुनाधौत कहा जाता था। इस प्रकार के पानकों का विशेष लाभ ये होता था कि ये दीर्घकालीन प्यास का निवारण कर देते थे। जबकि सामान्य पानी कुछ देर तक ही प्यास बुझाता है। आजकल तो शर्बत, शिकंजी, कांजी, आम का पाना आदि थोड़े पानक ही उपलब्ध होते है। प्राचीन युग में विविध प्रकार के फलों को निचोड़-निचोड़ कर पानक बनाए जाते थे। उस बनाने की प्रक्रिया में बीज, गुठली, कुणक आदि अभोज्य

पदार्थ पानी में आ ही जाते थे। बाद में उन्हें छलनी, कपड़े आदि से छान लिया जाता था, यदि कभी साधु-साध्वी के सामने ही छानने का प्रसंग आ जाए तो साधु-साध्वी के लिए वह पानक (शर्बत) अग्राह्य होता था। क्योंकि बीज गुठली आदि सचित होते हैं। आम नींबू आदि फलों को मात्र धोने की प्रक्रिया में बीज गुठली पानी में रह जाए और पानी को छानने की नौबत आए, ऐसा संभव नहीं है। तथा वह फलों से धुला हुआ पानी गृहस्थ छानेगा भी किसलिए? अतः आचारांग IInd श्रुतस्कन्ध अष्टम उद्देशक में 12 प्रकार के पानक को धोवन न समझकर पेय पदार्थ समझना उचित रहेगा। दशवैकालिक 5-1-75 में उच्चावच पानक, वारकधोवन, संस्वेदिम तथा चाउलोदक ये विभाजन बहुत स्पष्टता देता है। दिगम्बर मुनि जो एक बार भोजन करते हैं वे भी प्रायः पेय के रूप में रस या पानक ही लेते हैं, जो कि शरीर संचालन की दृष्टि से उपयुक्त माना जाता है। ये प्राचीन भोजन पद्धति का अनुकरण मात्र हैं

5. पानी और पनक (काई, नीलन फूलन) के जीवों की शरीरावगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि पोचे के स्पर्श और रगड़ से वे निर्जीव हो सकें ऐसा संभव नहीं है। इसी तरह जल में उत्पन्न कुछ त्रस जीव (Microbes) भी इतनी सूक्ष्म अवगाहना के होते हैं कि वे भी छानने, वस्त्र के रगड़ने से अप्रभावित रह जाते है।

6. कच्चे घड़े, सकोरे, ईंट आदि के धोवन की तर्ज पर राख से मंजे बर्तनों का धोवन कल्पनीय है। इस कथन का आशय ये नहीं है कि शिकंजी कांजी आदि सचित्त या अकल्पनीय है, वे तो सर्वथा अचित्त हैं ही, बर्तनों का धोवन भी अचित्त हो सकता है जबकि पोचे के पानी में ऐसी संभावना कम है।

7. बाजार या घरों में पानी की शुद्धि और अशुद्धि की तरतमता नापने की पत्तियां आती हैं, उनसे ये तो ज्ञात हो सकता है कि ये पानी सेहत के लिए हानिकारक है या नहीं, परन्तु उनसे जल की सचित्तता या

अचित्तता का ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सुबुद्धि मंत्री ने गंदे नाले के पानी को नितार-नितार कर स्वच्छ स्वादिष्ट तथा पेय बना दिया, यदि आधुनिक पत्तियों से उस जल का निरीक्षण किया जाए तो वह पानी 7 की बजाय 8 नंबर का निकलता है। लेकिन वह नाले का पानी तथा स्वच्छ किया हुआ पानी अचित्त प्रासुक या कल्पनीय था, ये तो सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे परिखा का उदक और बाद में शुद्ध जल सचित्त माना जाता है ऐसे ही पोचे के पानी के दोनों रूपों को सचित्त माना जाना चाहिए।

8. पोचे के पानी का संघट्टा अभी तक किसी ने नहीं टाला तो इसका अर्थ ये नहीं है कि वह पानी प्रासुक मान लिया जाए। कुछ संघ कुछ फलों का संघट्टा नहीं टालते, ग्रहण भी करते हैं, तो क्या संघट्टा न टालने मात्र से अचित्त मान लिया जाए। वैसे समय आ गया है कि पोचे के पानी का संघट्टा माना जाए और टाला जाए सचित्त फल की तरह।

9. एक तर्क दिया जा सकता है कि धर्मस्थानों में आने वाले श्रोताओं के पदत्राणों से अशुचि लिप्त होकर नहीं आती, यदि आती तो धर्म स्थानों में स्वाध्याय बन्द करने का आदेश होता। शायद कमजोर सा तर्क है। क्योंकि अस्वाध्याय का मूल अर्थ और लक्ष्य है धर्म कथा का आयोजन न करना है। जिस स्थान पर दुर्गन्धपूर्ण अशुचिता प्रतीत होती हो, जुगुप्सनीय वातावरण हो, उस स्थान पर प्रवचन बन्द करने रूप अस्वाध्याय का विधान है। जबकि पदत्राणों में लगी अशुचि इतनी अल्प होती है कि जुगुप्सा का कारण नहीं बनती, किन्तु पानी आदि के संपर्क में आने पर वहां जीवोत्पत्ति की काफी संभावना बन जाती है।

10. फर्श पर पोचा लगाते समय फर्श पर पड़े धूंए के कण पानी को प्रासुक बना देते हैं, यदि ऐसी सोच है तो निवेदन है कि वर्तमान युग में रसोई में ही धूंआ लगभग लुप्त हो गया है। शेष कक्षों में तो

Zero Possiblity है। क्योंकि धूंआ तो प्रायः लकड़ी कोयलों की आर्द्रता के कारण उठता है, जबकि आजकल गैस के चूल्हे हैं। वहां धूंआ नहीं बनता, यह तथ्य सर्वप्रत्यक्ष है। इस विषय को लिपिबद्ध करने के पीछे कोई साम्प्रदायिक मानसिकता नहीं है अपितु साम्प्रदायिकता मोह में उलझकर अनावश्यक चर्चा करने वाले बंधुओं के सामने कुछ तथ्यों का प्रस्तुतीकरण है। फिर भी किसी की भावना आहत होती हो तो हार्दिक क्षमापना भी साथ-साथ ही स्वीकार करें।

कर्मादान एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं है

त्याग के उत्कृष्ट निदर्शन-नमूने के रूप में जैन धर्म को मान्यता मिली है। जहां कहीं भी त्याग की चर्चा होती है, जैन साधना पद्धति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जैन साधना का मूलाधार रही है– अहिंसा। अहिंसा की सूक्ष्मता, गहनता और विशालता के सभी आयाम जैन धर्म ने खोले और खंगाले हैं। इस आलोड़न-विलोड़न की प्रक्रिया के कारण ही जैन तीर्थंकरों ने अहिंसा को दो तरह से विभाजित किया है और उनके पालन कर्ताओं का स्वरूप निर्धारण भी किया। सूक्ष्म और स्थूल दो तरह की अहिंसा जैनों ने मानी और अहिंसा के अधिकारियों का निर्धारण करते हुए कहा कि सूक्ष्म-स्थूल दोनों तरह की अहिंसा के पालक होते हैं– साधु-साध्वी तथा स्थूल अहिंसा के पालक होते हैं– श्रावक और श्राविका। जिन प्राणियों को समग्र संसार जीवित समझता है, उनकी हिंसा न करना, रक्षा करना स्थूल अहिंसा है तथा जिन जीवों की जीवन्तता मात्र केवल ज्ञान या वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा ही मानी जा सके, उनकी हिंसा टालना, रक्षा करना सूक्ष्म अहिंसा है। चलने फिरने वाले त्रस प्राणियों की हिंसा से बचना स्थूल अहिंसा है तथा एकेन्द्रिय स्थावर जीवों–पृथ्वीकाय, अप्काय तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की रक्षा करना, रक्षा करने का प्रयत्न करना सूक्ष्म अहिंसा है। श्रावक धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति की विवशता ये है कि वह सूक्ष्म कोटि की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। अतः जब वह अपने व्रतों की प्रतिज्ञा करता है तो कहता है कि *"थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं"* अर्थात् मैं स्थूल प्राणातिपात से विरत होता हूँ।

साधारण जीवनचर्या में तो श्रावक को इस अहिंसा के पालन में कोई विशेष बाधा नहीं आती क्योंकि उसका खान पान रहन सहन सादगीपूर्ण होता है। परन्तु जब व्यवसाय कारोबार का प्रश्न खड़ा होता है तब वह कभी-2 स्थूल अहिंसा का पालन करने में भी अपने को

विवश पाता है। उसके सामने आजीविका सबसे मुख्य समस्या है। अपने व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद को, भोग परिभोग को, सीमित-अतिसीमित कर सकता है पर सकल परिवार की आवश्यकताओं, इच्छाओं, अरमानों की अनदेखी कैसे कर सकता है। उनकी पूर्ति के लिए उसे अर्जन के पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होती हैं। अतः कमाई जैसे भी हो वह करने लग जाता है। इस विषय में भी भगवान् महावीर ने श्रावकों को विवेक का रास्ता दिखाया है। उन्होंने अपने युग में प्रचलित 15 विशेष व्यवसायों को जैन श्रावक के लिए वर्जित किया है। जिन्हें प्राचीन भाषा में 'कर्मादान' कहा जाता है।[1]

श्रावक जीवन के मुख्य प्रतिपादक आगम 'उपासक दशांग' सूत्र में 15 कर्मादानों को सातवें गुणव्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत के उपभेद के रूप में व्याख्यायित किया है, मुख्य अंग के रूप में नहीं तथा उपभेद भी प्रतिज्ञा रूप न होकर अतिचार रूप में प्रस्तुत है। अतिचार व्रतों को दुर्बल और मलिन बनाते हैं, व्रतों को खण्डित नहीं करते, अतिचार सेवन के बाद प्रतिक्रमण से शुद्धि सम्भव है, अनाचार सेवन से प्रायश्चित्त लेना होता है। पन्द्रह कर्मादान अतिचार रूप हैं, अनाचार रूप नहीं।

आगमिक स्थलों का सरसरी अवलोकन करते ही एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि 15 कर्मादानों को छोड़ने के लिए आगमकारों का बहुत अधिक दबाव नहीं रहा। प्रत्याख्यान अनिवार्य नहीं, पर अभीष्ट था क्योंकि श्रावक वृति के लिए अनिवार्य पांच अणुव्रतों में उन्हें न प्रत्याख्यान रूप में गिनाया, न अतिचार रूप में। अर्थात् कर्मादान त्याग श्रावक के मूल गुणों (Basic tenets) का नहीं उत्तरगुणों (Supplementary tenets) का हिस्सा रहे हैं और इसकी झलक तत्त्वार्थ सूत्र में भी मिल रही है। वहां सातवें अध्याय में सम्यक्त्व,

---

1 कुछ आचार्यों ने कर्मादान का अर्थ कर्मबन्ध का कारण-भूत तत्व किया है, जबकि इसका शाब्दिक और सीधा सा अर्थ है काम धन्धा और कारोबार। कर्म=काम, आदान=अपनाना या स्वीकार करना।

12 व्रत, संलेखना के पांच अतिचार तो लिखे हैं पर 15 कर्मादानों की कोई चर्चा नहीं है। दिगम्बर परम्परा में भी 15 कर्मादानों के त्याग को लेकर प्राचीन आचार्यों ने कोई सूचना नहीं दी।

आचार्य समन्त भद्र-कृत रत्न करण्ड श्रावकाचार में इनका कोई उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर विभाजन तक कर्मादानों के प्रति जैन धर्म में गम्भीर विचार नहीं चला होगा, अन्यथा प्राचीन दिगम्बर साहित्य इस बहुमूल्य चिन्तन की उपेक्षा नहीं करता। दिगम्बर परम्परा में आधुनिक चिन्तकों ने व्यवसाय शुद्धि को अच्छी तरह से अपनाया है। वह श्वेताम्बरों की चिन्तन धारा का सकारात्मक प्रभाव है लेकिन उन नव चिन्तकों ने व्यवसाय शुद्धि को भोगोपभोग परिमाण व्रत के साथ नत्थी न करके अनर्थदण्ड विरमण व्रत के 'हिंस्र प्रदान' अतिचार के विस्तार में सम्मिलित किया है। उपासक दशांग के टीकाकार अभय देव सूरि ने अतिचार के बारे में कहा है *"अतिचारता चास्य कृतैतत् प्रत्याख्यानस्यानाभोगादिना अत्रैव वर्तनात्"* अर्थात् यदि अनाभोग-असावधानी से अतिचार का सेवन हो भी जाता है तो श्रावक अपने व्रत में रहता है, व्रत से च्युत नहीं होता।

प्रारम्भ में कर्मादानों में केवल वही व्यवसाय परिगणित किए गए थे जिनमें बहुलता से मनुष्यों, और पशुओं का दोहन व शोषण होता था, जिनमें सामाजिक सदाचार मर्यादाओं का विलोप होने का खतरा था। जैनत्व और श्रावकत्व का लेबल लगाने वाले धार्मिक व्यक्तियों से इतनी तो अपेक्षा की ही गई कि वे इस तरह के धन्धे से तो किनारा करें ही, जिनमें पंचेद्रिय प्राणियों का जीवन नष्ट होता हो। साथ ही साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि त्रसजीव भी बहुत संख्या में मरते हों, ऐसे व्यवसाय भी श्रावक के लिए अस्वीकरणीय घोषित किए गए। एकेन्द्रिय जीवों की अल्प या अधिक अहिंसा को ध्यान में रखकर कर्मादानों का विधान नहीं किया गया। श्रावकों की कोई भी व्यवस्था भगवान् महावीर के युग में एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं रही। इस

धर्म को मानने वाले क्षत्रिय राजा, सार्थवाह, श्रेष्ठी, सुसमृद्ध-कृषक, विदेश-व्यापारी वैश्य रहे थे। ये लोग अपनी गृहस्थ-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने तथा समाज में प्रतिष्ठित बनने के लिए बड़े-2 व्यापार करते थे जिनमें एकेन्द्रिय हिंसा को टालना अशक्य था। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए श्रावक को एकेन्द्रिय हिंसा के त्याग के लिए बाध्य नहीं किया गया और इसलिए भगवान् महावीर के श्रावकों का जीवन बिल्कुल सहज और जनसामान्य से जुड़ा रहा था।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णन है कि पालित चम्पा पुरी नगरी से पिहुण्ड नगर में समुद्री जहाज से गया था, वह भगवान् महावीर का श्रावक था। समुद्री जहाज से व्यापार करने वाले व्यक्ति से एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा की अपेक्षा करना अव्यावहारिक ही है। ज्ञाता धर्म कथांग में मल्लिज्ञात के प्रसंग में– अर्हन्नक जैसा उच्च कोटि का श्रावक भी समुद्री यात्राएं करता ही था। उपासक दशांग सूत्र में आनन्दादि दस श्रावकों के वैभव और त्याग का बड़ा हृदयंगम चित्रण प्रस्तुत है।

अधिकांश श्रावकों के पास 12 क्रोड़ सुवर्ण मुद्राएं है तथा 40 हज़ार से लेकर 80 हज़ार तक पशु हैं। चूंकि प्रत्याख्यानों का लेखा जोखा केवल आनन्द श्रावक के पाठ में दिया हुआ है अतः शेष 9 श्रावकों के प्रत्याख्यान 'जहा आणंदे' आनन्द की तरह मान लिये जाते हैं। इस आधार पर अधिकांश श्रावकों के पास 1000 गाड़ियां और 8 जहाज़ थे। आधी गाड़ियां और जहाज़ सवारी के लिए तथा आधी भार वहन के लिए। पांच सौ हल प्रमाण भूमि उनके पास थी। इतनी विशाल भूमि, इतना विस्तृत व्यापार, इतनी अधिक विदेश गमन सामग्री, इतने विपुल पशुधन आदि के स्वामी श्रावक क्या पृथ्वी को नहीं खोदते खुदवाते होंगे, कृषि नहीं करते होंगे, जल का पर्याप्त प्रयोग नहीं करते होंगे, फसल आदि के बोने काटने से सम्बद्ध नहीं रहते होंगे?

सब कुछ करते होंगे क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के लिए उनकी व्रतीय प्रतिज्ञा नहीं होती थी।

परन्तु जैन इतिहास में वह समय भी आया जब साधुओं की भांति श्रावकों ने भी एकेन्द्रिय त्याग का रुझान बढ़ाया। उन्हें भी सूक्ष्म अहिंसा की सीमा में प्रवेश करवाया जाने लगा। पन्द्रह कर्मादानों की व्याख्याएं इस नई विचार धारा की ओर संकेत करती हैं। जब वह विचारधारा आगे बढ़ी तो इसने आगमकारों के मूल आशय को तिरोहित सा कर दिया और उस पर नई परत चढ़ा दी सूक्ष्म अहिंसा की।

प्रस्तोतव्य लेखन का उद्देश्य उस परत के पीछे जाना है। किसी को ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि यह लेखन एकेन्द्रिय हिंसा का समर्थन कर रहा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि आगमकारों की मूल भावना जन-2 तक पहुंचे। जैन धर्म की मान्यताएं हौवा न बन जाएं। श्रावक वर्ग अनावश्यक भय और भ्रान्तियों का शिकार न बने तथा पारस्परिक उच्चावचता की अनावश्यक धारणाओं का प्रसार रुके। त्याग प्रधान जैन संस्कृति को त्याग विमुख करना एक अपराध है तो गलत धारणाएं देकर भय से संत्रस्त करके त्याग की ओर उन्मुख करना उससे भी बड़ा अपराध है। इस प्रयास को इसी प्ररिपेक्ष्य में देखा जाएगा तो परम्परा भंग की गन्ध नहीं आएगी।

कर्मादानों का निषेध प्रथमतः इसलिये किया गया था ताकि जैन श्रावक धर्म ध्यान, त्याग तपस्या का पालन करते हुए व्यावसायिक अहिंसा को दृष्टि विगत न कर दें, क्योंकि व्यवसाय के संम्बन्ध में मानव काफी प्रतिबद्ध रहता है। व्यवसाय के ईर्द गिर्द ही गृहस्थ का जीवन घूमता है। वह व्यवसाय से जुड़ी हुई बुराइयों की इसलिए अनदेखी कर देता है क्योंकि वह आय के स्रोतों को बंद नहीं रख सकता है। धनार्जन उसकी मौलिक आवश्यकता है और कभी-2 धनार्जन की प्रकृति कुछ इस प्रकार की हो जाती है कि प्रचुर धन की प्राप्ति हिंसा से ही होती है। यदि हिंसा से बचाव किया जाए तो असत्य, चोरी, दुराचार, माया, छल आदि का सहारा लेना पड़ता है। आगमकारों ने उन सब पाप प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए मुख्य-2 पन्द्रह काम धंधों को चयनित

कर दिया। पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने उन काम धंधों की संख्या 15 ही नहीं रखी अपितु सैंकड़ों व्यवसाय इन पन्द्रह कर्मादानों में अन्तर्गर्भित कर दिए। ऐसा करना आवश्यक और उचित तो था पर इस विस्तारीकरण की प्रक्रिया में कुछ सावधानियां छूट गई और कई तरह के असन्तुलन उभर आए। यथा—

1. एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा को कर्मादानों का आधार माना जाने लगा।
2. छोटे-2 व्यवसाय जो कि बहुत निर्दोष और आर्य कोटि में आने चाहिए थे, उन्हें भी महारंभ कोटि में डाल दिया गया।
3. जो व्यवसाय कालान्तर या स्थानान्तर में विशुद्ध रूप में परिणत हो गए उन्हें कर्मादान वर्ग से बाहर करने का चिंतन प्रारम्भ नहीं हुआ।
4. हिंसा के अलावा धनार्जन के हेतु भूत असत्य, बेईमानी, शोषण, उत्पीड़न आदि पापों के प्रति उपेक्षा पनपने लगी।
5. ब्याज की बड़ी-2 दरों के माध्यम से मजबूर लोगों को लूटने की छूट को अकुंश नहीं लगा।
6. कुछ सफेद पोश धंधों को ही जैनत्व की पहचान बना दी तथा सामान्य और निर्धन लोगों के छोटे-मोटे धंधों को तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाने लगा।

इन चिन्तन बिन्दुओं को स्पष्ट करने की प्रक्रिया अग्रिम पंक्तियों में रहेगी।

1. अंगार कर्म का नाम आते ही सर्वप्रथम भट्ठों का ध्यान आता है। इस व्यवसाय को निषिद्ध करने के पीछे मुख्य उदेश्य यह था कि प्राचीनकाल में बंधुआ मजदूरी इस धन्धे में सर्वाधिक थी। ईंटों को पाथने, सुखाने और पकाने के लिए नियुक्त होने वाले मजदूरों के पूरे परिवार जिन्दगी भर मालिक के गुलाम बन जाते थे। कितनी जगहों पर तो कई-कई पीढ़ियां इस गुलामी से छूट नहीं पाती थी। श्रमिकों के हित

में न कोई कानून था न सरकार थी, न कोर्ट कचहरियां थी। नवयुग की औद्योगिक क्रान्ति के 100-200 वर्ष बाद, जबकि श्रम सम्बंधी सैकड़ों कानून बन चुके हैं, बाल श्रम को अवैधानिक घोषित कर दिया गया है, न्यूनतम वेतन और श्रम-समय निर्धारित हो चुके हैं, ऐसे अनुकूल वातावरण में भी कितनी ही जगह भट्ठों से बंधुआ मजदूरों (Bonded labourers) के शोषण की चर्चाएं सुनने में आती हैं, फिर सैंकड़ों हज़ारों वर्ष पूर्व उन बंधुआ मजदूरों की क्या दुर्दशा होती होगी, कल्पना ही की जा सकती है। उन विकट स्थितियों में जैन धर्म की ओर से मानव जाति के लिये एक दिव्य भव्य मानवतावादी संदेश गया कि जिस कारोबार में श्रमिकों का इतना शोषण होता हो, वह त्याज्य है।

"कंकालों की अतुल राशि पर ये विस्तृत साम्राज्य खड़े हैं।
ये मानव प्रस्तर हैं बुनियादों में भूले त्याज्य पड़े हैं॥"
"ये कैसे बादल हैं बरसे, सागर सरसे गागर तरसे।
उस पानी की क्या कीमत है, जो प्यासे के होंठ न परसे॥"

इस मानवता वादी दृष्टि कोण को भुला कर हमारे मध्य युगीन व्याख्याकारों ने केवल अग्नि की हिंसा को महापाप मानकर बात का बतगंड़ बना दिया और सुनार, लुहार, भड़भूजे, हलवाई, रंगरेज, धोबी आदि छोटे-2 अल्प बजट के लोगों की रोजी रोटी को कर्मादान, महारम्भ करार कर दिया। ये सही है कि अग्नि अपने आप में बहुत बड़ा शस्त्र है तथा पुराने भट्ठों और आवों का रख रखाव खतरे भरा होता था। उनमें अनजान कुत्ते या बिल्ली या पशु पक्षी गिरकर प्राणों से हाथ धो सकते थे, भट्ठों के कारण पर्यावरण प्रदूषण और परिणाम स्वरूप ग्लोबल वार्मिंग की संभावना बन सकती है। इन कारणों से भले ही भट्ठों का धंधा कर्मादान में परिगणित कर लिया जाए। पर एकेन्द्रिय मात्र की हिंसा के कारण नहीं। वैसे अद्यतन व्यवस्था में भट्ठों में बाहरी पशु पक्षी के घुसने की सम्भावना Zero प्रतिशत है। उनको इतनी बखूबी से पैक किया जाता है कि पशु पक्षी तो दूर, हवा की लहर

भी नहीं जा सकती। तथा नूतनतर व्यवस्थाओं में प्रदूषण रोकने का पूरा प्रयत्न किया जाने वाला है। अतः इस व्यवस्था को सदा के लिए कर्मादान नहीं कहा जा सकेगा। उपासक दशांग में सद्दाल पुत्र श्रावक का व्यवसाय कुंभ निर्माण का है, 500 दुकानों का मालिक है, कितने विशाल पैमाने पर उसका कारोबार चलता होगा। पर उसको महारंभी का खिताब नहीं दिया गया। उच्चकोटि के दस श्रावकों में वह एक है। अंगार कर्म के दायरे को बढ़ा कर छोटे-2 कारोबारियों का लांछित करना तो सत्य के साथ सरासर अन्याय ही है। अधिक खींचतान में तो भोजन पकाना, दर्शनार्थियों के लिए आहारादि की व्यवस्था करना भी वर्जित करना पड़ेगा। दो तीन पीढ़ी पूर्व पर्यूषणों में कत्लखाने बन्द करवाने की मुहिम में कहीं-2 हलवाइयों की दुकानें बन्द करवाने का उल्लेख भी पढ़ने-सुनने में आया है। यह सब कुछ स्वविषय का अतिक्रमण ही प्रतीत होता है।

2. यही दुरवस्था "वनकर्म" की व्याख्या के साथ हुई। बड़े-2 जंगलों में कटान में प्राचीन और अर्वाचीन युग में माफिया गिरोह का कब्जा रहा है। उनका अधिकतर कार्य अवैधानिक होता है। इस व्यवसाय में बंधुआ मजदूरी का व्यापक प्रचलन रहा है और कहीं-2 आज भी प्रचलित है। वनों के कटान में वन्य-पशुओं, वृक्षाश्रित पक्षियों, उनके अण्डों, मधुमक्खी के छत्तों, वनवासी मानव बस्तियों का भयावह विनाश होता रहा है। कटे हुए वृक्षों के लदान के दौरान मनुष्यों तथा पशुओं पर ज्यादती होती है। इस अत्याचार को रोकने के लिए वनकर्म का वर्जन श्रावक के लिए किया गया था। परन्तु व्याख्याकारों की सूक्ष्म दृष्टि यहां तक पहुंची कि सरसों, धान की खेती, चाय, काफी, मेहंदी, फूल फलों के बाग आदि का आरम्भ, समारम्भ कर्मादान के खाते में डाल दिया। कृषि जैसे महा-हिंसा-निवारक आर्यकर्म को भी कर्मादान कहना जैनत्व की उदार दृष्टि के प्रतिकूल ही लगता है। लगता है कि कृषि के खिलाफ तो हमारे कुछ पूर्वाचार्य ज्यादा ही पीछे पड़ गए कि उसे वन कर्म में भी

निंद्य ठहरा दिया और फोड़ी कर्म में भी। यदि कृषि न होती तो मानव जाति को अपनी भूख शान्त करने के लिए मांसाहार का सहारा लेना पड़ता। मांसाहार सरीखे महापाप से बचाने का एकमात्र साधन कृषि है और आश्चर्य है कि इसे ही जैन विचारकों ने कर्मादान कह डाला। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव को कृषि का प्रवर्तक मानने वाली जैन परम्परा आत्मविरोधी भाषा बोलती नज़र आ रही है।

वेदों में भी संदेश है– "अक्षैर्मा दिव्य कृषि मित्कृषस्व" "ऐ युवकों पासों से जुआ मत खेलो, बल्कि अपने खेतों को बाहो" रेगिस्तान, पर्वत बहुल, बर्फीले, समुद्रतटीय इलाकों में कृषि नहीं हो सकती थी। अतः उन इलाकों में मानव जाति का भोजन मांस और मछली रहा। केवल मैदानी, जलीय स्रोतों से सम्पन्न इलाकों में खेती की संभावना बनी तथा वहीं शाकाहार का प्रचार प्रसार हो सका। यूरोप, अरब, अमेरिका अफ्रीका आदि द्वीपों और मुल्कों में सहस्राब्दियों तक मांसाहार ही मुख्य भोजन इसलिए रहा क्योंकि तब तक वहां कृषि का प्रचलन नहीं रहा था। आज कृषि बढ़ी है तो शाकाहार के लिए रास्ता भी खुलने लगा है। कृषि के भरोसे ही विश्व का पशुधन भी बच सकता है। अन्यथा उसके खाने के लिये क्या बचेगा? सिन्थैटिक वस्त्र के आगमन से पूर्व वस्त्र की प्राप्ति का साधन भी खेती ही रहा है। अन्यथा मृगचर्म आदि का उपयोग ही एक मात्र विकल्प रह जाता और पशु हत्या का लम्बा सिलसिला जारी होता।

जैन काल व्यवस्था में लिखा जाता है कि पंचम आरे के अंत में जब पृथ्वी की उर्वरता नष्ट हो जाएगी, कृषि और कृषक विदा हो जाएंगे तब मानव जाति मासांहार, मत्स्याहार से ही अपना जीवन यापन करेगी। अवसर्पिणी का छठा, उत्सर्पिणी का प्रथम आरा-42 हज़ार वर्ष का काल कृषि के अभाव में मांस परक रहेगा।

सुख विपाक सूत्र में सुबाहु कुमार के विवाह प्रसंग पर उल्लेख है कि उसे उसके पिता की ओर से 500 ब्रज प्राप्त हुए थे। एक ब्रज

में दस हज़ार पशु थे। पचास लाख पशुओं का स्वामी सुबाहु कुमार भी भगवान् के चरणों में 12 व्रत ग्रहण करता है। उन पशुओं के भोजन के लिए क्या कृषि नहीं होती होगी। यदि होती होगी तो क्या सुबाहु कुमार के व्रत भंग हो गए होंगे या वह महारंभी, कर्मादानी श्रावक था।

ठीक है कि कृषि में भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों की आरंभज हिंसा है। कहीं-2 अविवेक के कारण कीट नाशक दवाओं के प्रयोग से संकल्पज हिंसा भी हो रही है, वह वर्जनीय है, पर पृथ्वी खोदने तथा फसल काटने के कारण कृषि कर्मादान नहीं हो सकती, न वन कर्म के तहत, न स्फोट कर्म के तहत।

3. तीसरे कर्मादान 'साड़ी-कर्म' का शकट कर्म अनुवाद संभवतः व्याकरणानुसार अशुद्ध है। सभी आगमों में शकट के लिए 'सगड़, सगड़ी, सागड़ियो' आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं। पर जाने क्यों 'साड़ी-कम्मे' की छाया शकट कर्म स्वीकार कर ली गई। साड़ी कर्म सातन, शाटन कर्म या शाटिका कर्म हो सकता है। "सद्पतोर्डः" आचार्य हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण-4.219 से भी साड़ी शब्द की व्युत्पति होती है जिसका अर्थ होगा = पर्वतादि की शिलाएं नीचे गिराना। चूंकि पुराने युग में राजा महाराजाओं के भवन, पिरामिड आदि को बनाने के लिए विशालकाय शिलाओं को पर्वतों से लाया जाता था। क्रेन आदि मशीने भी नहीं थी। केवल मानव और पशु ही उस सारे काम में लगाए जाते थे। इतिहास में विश्व विख्यात भवनों के निर्माण की अत्याचार पूर्ण कहानियां भी दर्ज हैं। मिस्र के रेगिस्तान में बने बृहदाकार पिरामिड़ों के लिए लाए गए पत्थरों में हज़ारों जाने गई है। गीजा (मिस्र) के रेगिस्तान में कूफू के बादशाह द्वारा बनाए गए 480 फुट ऊंचे पिरामिड के बारे में यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस ने लिखा है कि एक लाख दमित गुलामों के श्रम से 20 साल में वह भवन तैयार हुआ था। मिस्र की जनता उस शासक से इतनी घृणा करती थी कि सदियों, सहस्राब्दियों

के बाद तक उसका नाम लेने में पाप समझती थी। उस पिरामिड में 23 लाख पत्थर की शिलाएं हैं और प्रत्येक शिला का औसत वजन 2 या डेढ़ टन है। रेगिस्तान में उन पत्थरों को किस तरह पहुंचाया गया होगा और किस तरह इतनी ऊंचाई तक चढ़ाया गया होगा। ये भी एक दिल दहलाने वाली कल्पना बन सकती है क्योंकि उस युग में पर्वतों को तोड़ने, शिलाओं को ढोने और चढ़ाने के लिए मशीने नहीं थी। ऐसी स्थिति में पशुओं और मजदूरों के द्वारा ही सब काम लिया गया होगा और उन पर क्या-2 अत्याचार हुए होंगे? उन अत्याचारों को रोकने के लिए भगवान् महावीर ने उद्घोष किया और साड़ी-कम्मे द्वारा ऊंचे-पर्वतों पर से शिलाओं को गिराने का काम पाप पूर्ण बताया। वह एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय की अपेक्षा से नहीं, मानवों की अपेक्षा से था। Apte Sanskrit English Dictionary में शाट् धातु का अर्थ दिया गया है— (To fall, throw down, cut down) गिराना, काटकर नीचे लुढ़काना। यदि शाटिका को साड़ी कर्म से सम्बद्ध करें तो रेशमी साड़ी के निर्माण में होने वाला कीड़ों का वध कर्मादान के अन्तर्गत आएगा। वैसे शाटिका शब्द बहुमूल्य वस्त्रों की सभी किस्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'एक साडिय उत्तरासंग' में ऊपर ओढ़े जाने वाले वस्त्र का वाचक बन गया है। पर यहां मुख्यतः हिंसा जन्य वस्त्रों का निर्माण निषिद्ध है। तथा शकट कर्म का जो प्रचलित अर्थ है उसे भी स्वीकृत किया जाए तो ट्रान्सपोर्ट का व्यवसाय पहले युग में पशुओं पर अवलम्बित होने से कर्मादान माना जा सकता है क्योंकि पशुओं के प्रति संवेदन-हीनता इस प्रकार के कार्यों में अक्सर हो ही जाती थी। उन पर अतिभार लादा जाता था, उचित आहार नहीं दिया जाता था, ऋतु अनुसार उनके छाया या धूप का प्रावधान नहीं था, रोग की स्थिति में उपचार नहीं था, चाबुक आदि के प्रहार निरन्तर होते हैं, घावों पर भी पट्टी की बजाय चोट पड़ती थी। उस निर्ममता से मानव को बचाने के लिए शकट कार्य कर्मादान के अर्न्तगत माना जाए, ना कि लकड़ी लोहे के प्रयोग मात्र से। आज के युग में Transportation में पशुओं की हिंसा

बिल्कुल नहीं है। अतः इस प्रकार के काम को कर्मादान की Boundary से बाहर निकालना न्यायपूर्ण रहेगा। हां इस व्यवसाय में ड्राइवरों द्वारा मद्यपान, Rash driving से दुर्घटना तथा कुत्ते बिल्ली आदि को कुचला जाना बढ़ता जा रहा है, अतः सावधानी उस मौके पर आवश्यक है, पर पूर्वकाल की अपेक्षा आज शकटकर्म अल्पारंभी हो गया है। शूलपाणी यक्ष का कथानक शकट कर्म की भयावहता का प्रसिद्ध उदाहरण है। एक धौरेय बैल पांच सौ पंक-मग्न शकटों को खींचता है और अपनी जान जोखिम में डालता है।

4. इसी व्यवसाय से जुड़ा व्यापार 'भाड़ीकर्म' रहा है जहां भाड़े पर पशु दिए जाते थे। कुली, भारवाहकों का प्रबन्ध किया जाता था।

पहाड़ी इलाकों में भारी भरकम सामान को चढ़ाने वाले गरीब लोग आज भी मिलते हैं। तीर्थ दर्शनों के लिए जाने वाले अमीर, धनी वर्ग पालकी में बैठकर प्रभु दर्शन कर लेते हैं पर कहारों पर रहम नहीं करते। टट्टू, घोड़ों पर दया करें, ये तो कल्पना से परे है। पहले कम वेतन अधिक काम, गरीबों का शोषण इतने भयावह स्तर का था कि मानवता बिलख जाती थी, पर अधिक शक्ति सम्पन्न लोगों को दया नहीं आती थी। अधिकाधिक अर्जन की लालसा में धनिक वर्ग साधन हीन प्रजा का दोहन निरन्तर करता था।

केवल कुछ का ही नहीं सखे, सुख में सबका ही साझा है,
फिर क्यों कोई भूखा नंगा कोई महलों का राजा है।
है न्याय यही श्रम करो किसी का नहीं छीन कर खाओ तुम।
उन्नति हो जिससे जन-2 की, मानवता ध्वज फहराओ तुम॥

मानव इतिहास में ऐसे स्थान और युग भी अंकित हुए हैं, जब युद्धों में भी भाड़े के लोग एकत्रित किए गए, उन्हें प्रयुक्त किया गया और मरने पर उनके परिवारों को मुआवजा तो दूर, लाश भी नहीं सौंपी गई। आज के युग में कम से कम सभ्य समाजों में जिनमें जैन वर्ग भी

सम्मिलित है, ऐसे क्रूर भाड़े का प्रचलन नहीं है, कोई चाहे तो भी चलाना सम्भव नहीं है। ऐसे में कार-रिक्शा, ऑटो, पोशाक, मकान आदि किराए पर देना कर्मादान नहीं कहला सकता। आजकल तो किराए पर लाखों चीज़े दी जाती हैं अतः मानव और पशु तथा अन्य पंचेद्रिय प्राणियों का शोषण न हो तो इसे कर्मादान से बाहर रखना उचित है।[1]

5. पांचवे कर्मादान 'स्फोट कर्म' का सीधा सा अर्थ है– धमाके के साथ फटना, फोड़ना, तोड़ना (bursting – बम विस्फोट की तरह)[2] इस काम में पहाड़ों को तोड़ना तथा खानों को फोड़ना सम्मिलित रहा है क्योंकि यह प्रक्रिया काफी संकट पूर्ण और खतरों से भरी होती है तथा पुराने समय में तो मानवों की सुरक्षा के पर्याप्त साधन भी नहीं होते थे। पहाड़ों के विस्फोट के दौरान मजदूरों की जानें प्रायः जाती ही थी तथा खानों में अधिक नीचे जाने पर आक्सीजन, रोशनी आदि का प्रबन्ध भी नही होता था। खानों में कोयला, पत्थर या अन्य खनिज निकालते हुए कोई हादसा हो जाता या मजदूर लोग नीचे दब जाते तो उनको बचाने का न तो कोई उपाय उस युग में था, न दायित्व, न संवेदना। खानों के नीचे मजदूरों को जिस प्रदूषित वातावरण में सांस लेना पड़ता था, उससे उनकी जिंदगी का तन्त्र दुर्बल हो जाता था। उन अमानवीय परिस्थितियों से श्रमिकों को निजात दिलाने के लिए स्फोट कर्म को भगवन्तों ने निषिद्ध किया था। किन्तु हमारे कुछ अत्युत्साही विचारकों ने तो बाल की खाल उतार दी। जमीन जोतना, चने, मूंग की दाल बनाना, धान का छिलका उतारना, न जाने क्या-2, इस कर्मादान की श्रेणी में डाल दिया। एकेन्द्रिय जीवों का चिंतन हमारी मानसिकता पर इतना हावी हो गया कि हमें यथार्थ वस्तु स्थिति दिखनी ही बंद हो गई। पहाड़ों के विस्फोट को क्या पत्थरों की साधारण चिराई से जोड़ा जा सकता है? कुआं बावड़ी बनाना विस्फोट कैसे हो गया, यह

---

1 (भाटि– Wages, hire, Rent दिहाड़ी, किराया, वेतन Apte)

2 मीमांसकों ने शाश्वत ध्वनि (eternal sound) – को स्फोट कहा है

समझ से बाहर है। इसके निर्माण की प्रक्रिया में मानव और पशुओं का जीवन किस बिंदु पर आहत होता है, यह भी सोचना चाहिए। कृषि को "फोड़ी कर्म" बताना तो सर्वाधिक हास्यापद है। आज का युग टेक्नालॉजी में इतना विकसित और मानवीय जीवन सुरक्षा के प्रति इतना सावधान सचेष्ट हो चुका है कि पर्वतों के विस्फोट तथा खानों के विस्फोट में भी जन हानि नहीं होने दी जाती। और तो और पर्यावरणीय कारणों से mining के ऊपर हज़ारों तरह की पाबन्दियां भी आज लगाई जा रही हैं, ऐसे में मानव और पशुओं का हनन तो अनुमत हो ही नहीं सकता। यदि यांत्रिक विधि से संवैधानिक मर्यादा में पर्यावरण को नुकसान न पहुंचाते हुए पर्वतादि का; खानों का विस्फोट किया जाता हो और मानवों, पशुओं को कोई खतरा न हो तो इस क्रिया को भी कर्मादान की परिधि से बाहर लाना उचित रहेगा। श्रावक एकेन्द्रिय जीवों की अनावश्यक हिंसा से भी बचे, ये अच्छा है, पर एकेन्द्रिय-रक्षा कर्मादान का मापदण्ड न बने।

6. दन्त वाणिज्य पर हमारे विचारक काफी संतुलित रहे हैं। इस व्यापार में हाथी दांत के साथ-2 गाय भैंस आदि का चमड़ा, हड्डियां, नाखून आदि सम्मिलित करके बड़ा अच्छा विस्तार किया है। जब इन व्यवसायों का Whole Sale में संचालन करना होता है, तब पशुओं को बेरहमी से पकड़ा, काटा, मारा जाता है। इस युग में Mechanical Slaughter houses में इस क्रूरता का प्रत्यक्षीकरण होता है। ऊंट, भेड़, बकरी आदि की ऊन का व्यापार इसके अन्तर्गत न आकर 'केश वाणिज्य' के दायरे का विषय है। वहां भी द्रष्टव्य ये रहेगा कि उन पशुओं पर अत्याचार नहीं होता हो, उनके प्राणों के साथ खिलवाड़ न की जाती हो तो यह कार्य भी कर्मादान नहीं कहलाएंगे।

7. लाक्षा-वाणिज्य को निषिद्ध करने का मुख्य उद्देश्य यह रहा था कि त्रस जीवों की हिंसा रुके। बिहार प्रान्त में इसकी उत्पत्ति मुख्य रूप से होती थी। और लाख कोई वनस्पति उत्पाद न होकर कृमि उत्पाद

रहा था। लोध्र के वृक्ष (Butea frondisha) के पत्तों पर Pochoneal Insect को लाखों करोड़ों की तादाद में उत्पन्न कराया जाता था। उस वृक्ष के पत्ते उन लाल कीड़ों से पूरी तरह ढक जाते तो पत्तों को तोड़कर सुखा लिया जाता, फिर कीड़ों सहित उबालकर लाख-लाक्षा (Lac) तैयार होती थी।

आजकल बर्मा मलेशिया में भी इसका प्रचुर उत्पादन होता है। भारत में विशेष रूप से बिहार व झारखण्ड में पलाश और बैर के वृक्षों पर लाख के कीड़ों को पनपाया जाता है। लाख का कीड़ा वृक्ष की शाखा पर अपना स्थान बनाता है और उसी से अपनी खुराक बनाता है, हज़ारों लाखों कीड़े साथ-2 चिपक जाते हैं और टहनी ढक जाती है। उन टहनियों को काटकर पीस लिया जाता है। लकड़ी बहुल हिस्सा ईंधन के काम आता है तथा दानेदार हिस्से को धोकर पिघलाकर पर्त बनाई जाती है और उसका व्यवसायिक प्रयोग होता है। आजकल एक किलो ग्राम लाख को तैयार करने में लगभग चार लाख कीड़ों की हत्या करनी पड़ती है।

आज के युग में लाख का उपयोग फर्नीचर की पॉलिश करने, पार्सल सील करने, बिजली के उपकरणों के ईन्सुलेशन तथा चूड़ी आदि बनाने में होता है। महाभारत में लाक्षागृह निर्माण की चर्चा मिलती है।

प्रारम्भ में लाख की प्राप्ति सहज़ रूप से रही होगी, पर बाद में मानव ने इसे योजनाबद्ध तरीके से तैयार किया। जैसे कि रेशम के धागे की प्राप्ति करने के लिए रेशम के कीड़ों का मारा जाता है, वैसे ही लाख बनाने के लिए लाख के कीड़ों को जनमाया और मारा जाता है। उन त्रस जीवों की बेशुमार हत्या से बचाने के लिए लाक्षा वाणिज्य को श्रावक के लिए वर्जित किया गया था परन्तु न जाने क्यों फिर इस कोष्ठक में ऐसे व्यापार और सम्मिलित कर लिए गए जिनका इस तरह की त्रस हिंसा से कोई लेना देना नहीं था। मैनसिल, नील, साबुन, सोड़ा, नमक, रंग आदि व्यापार भी वर्जित कर दिए। और मजा ये कि

कारण कुछ नहीं बताया गया। इन निर्हेतुक विधि-निषेधों से धार्मिक वर्ग असमाहित अधिक हुआ है, आश्वस्त कम। अतः इस नए परिशिष्ट को छोड़ने में ही जैन धर्मियों की समझदारी है तथा जैनत्व की सुरक्षा भी।

आधुनिक उद्योग जगत ने सिन्थैटिक लाख भी तैयार कर लिया है तथा इसका प्रचलन भी बढ़ता जा रहा है। उस सिन्थैटिक लाख के कारोबार को कर्मादान के अन्तर्गत नहीं रखा जाएगा क्योंकि उसके निर्माण में त्रस जीवों की अन्धाधुन्ध हिंसा नहीं है।

8. रसवाणिज्य में मूलतः शराब निकालने और बेचने को शामिल किया जाता था। शराब निर्माण की प्रक्रिया बहुत अधिक त्रस जीव घातक होती थी। (एक तरह से लाक्षा निर्माण की तरह) मद्य उत्पादक पदार्थों के गलाने में, सड़ाने में बहुत संख्या में जीवों की उत्पत्ति होती थी। उन्हें जीवित हालत में उबाल लिया जाता था। अतः मदिरा उत्पादन महान हिंसामय होने से श्रावक के अनुकूल नहीं था तथा मद्यपान करना, करवाना, उससे अपनी आजीविका चलाना श्रावक के लिए अशोभनीय भी था। इस शब्द का विस्तार किन्हीं अर्थो में तो बहुत अच्छा हुआ पर कुछ अनावश्यक खींचतान भी हुई, जैसे कि शराब के साथ मांस, चर्बी और कुछ अंशों में शहद का धंधा रस वाणिज्य के अन्दर डाल दिया। यहां तक तो ठीक था पर दूध, दही, घी तेल, मक्खन और कहीं-2 गुड़ शक्कर भी इसमें सम्मिलित कर लिए गए जो कि कथमपि रस वाणिज्य के अंग नहीं थे। शहद की नूतन उत्पादन प्रक्रिया बहुत कर अहिंसक है। शहद उत्पादक किसान डिब्बे बन्द छत्तों में मधुमक्खियों का पालन पूर्ण देखभाल के साथ करते हैं। प्राकृतिक रूप से कोई मधुमक्खी मर जाए तो बात अलग है अन्यथा अपनी ओर से वे एक-2 मक्खी को बचाने का उतना ही प्रयत्न करते हैं जितना ग्वाला गाय और भैंस को।

पुरानी मदिरा निर्माण प्रक्रिया में गुड़ प्रयुक्त होता था आजकल तो Sugar factory के Molasses से ही शराब बनाई जाने लगी है, और

भी बहुत सी प्रक्रियाएं हैं, पर इतने मात्र से गुड़ शक्कर का व्यापार कर्मादान नहीं बन सकता।

9. विष-वाणिज्य में जीवों के घातक प्रत्येक द्रव्य को गिनना चाहिए, हां, बिना लाइसेंस की बन्दूक, कटार आदि का धंधा भी इसके साथ जोड़ना अच्छा लगता है। क्योंकि जैसे विष से मानववध हो सकता है, ऐसे ही इन हथियारों से भी। आत्म हत्या में भी ये शस्त्र निमित्त बन सकते हैं। विष और शस्त्र यहां समानार्थक माने हैं। चूहेमार गोलियां, गर्भपात की दवाएं, कीटनाशक पाऊडर विष वाणिज्य के हिस्से हैं पर कुदाली, हल-फावड़े आदि कृषि उपकरणों को इसके साथ जोड़ना वाजिब नहीं है।

10. केश-वाणिज्य में वही व्यापार लिया जाए जिसमें पशु या मानवों का जीवन पीड़ित या नष्ट हो जैसा कि चंवर बनाने के लिए 'चमरी गाय की पूंछ काटी जाती है, कस्तूरी पाने के लिए मृग विशेष की नाभि (Musk deer) को काटना पड़ता है। फर के कोट, पर्स, टोपी के लिए Seal (सील) नामक बर्फीले पशु की खाल उतारी जाती है। यदि किसी व्यवसाय में सिंथेटिक केश प्रयुक्त किए जाते हैं तो वे केश वाणिज्य होते हुए भी कर्मादान नहीं है क्योंकि उनमें किसी की जिन्दगी नहीं ली गई।

11. यंत्र पीलन को निषिद्ध करने के पीछे भी आगमकारों का उद्देश्य पशु यंत्रणा से छुटकारा दिलाना था। पूर्व काल में छोटे या बड़े सभी यंत्र बैल, महिष आदि द्वारा संचालित होते थे। फिर उन पर रहम करने की किसको सूझती। मानव निज स्वार्थों के आगे पशुओं के आराम को क्या तरजीह देता? पर जैन धर्म ने उनके सुख और आराम की ओर ध्यान खींचा। पर इस मुद्दे पर फिर पूर्व चिन्तकों ने ज्यादा ही कलम चला दी। तिल, सरसों, गन्ने के कोल्हू, Tube well, फैक्टरियां, आरा मशीन आदि न जाने आजकल की हर मशीन को निषेध के घेरे में घेर दिया। आजकल प्रायः सभी मशीनें बिजली

द्वारा चलाई जाती हैं। पशु तो आज के यन्त्रों से असंबद्ध हो ही रहे हैं। मानव भी automatic तथा Computerised फैक्ट्रियों में अनुपयोगी से हो गए हैं। उस दृष्टि से बड़ी मिलें कारखाने बुरे नहीं हैं। पर यदि उनमें श्रमिकों के साथ अन्याय होता हो, उन्हें स्वास्थ्य-घातक स्थितियों में रखा जाता हो, पूरा वेतन नहीं दिया जाता हो, तो वे कर्मादान गिने जाएं तथा उन फैक्ट्रियों से जहरीले Chemical निकालकर जल या वायु को जहरीला बनाते हुए मानव जीवन के लिए घातक बनते हो तो भी वे कर्मादान वत् वर्जनीय हैं। आजकल के औद्योगीकरण में यंत्र शब्द मात्र को लेकर हो हल्ला बाबेला मचाना बंद होना चाहिए।

12. 13. 14. 15. क्रम पर आए निर्लाछंन कर्म, दवाग्नि-दापनता, सरोवर शोषण, असज्जन पोषण की व्याख्याएं प्रायः ठीक मिलती हैं क्योंकि इनमें मुख्यतया त्रस प्राणियों का उत्पीड़न और वध भी उभारा गया है। यदि स्थावर का उल्लेख भी हुआ है तो गौण रूप से। तथा राष्ट्रीय सामाजिक सदाचार की सुरक्षा को खण्डित करने वाले, दुराचार वर्धक धन्धे भी वर्जनीय हैं। यह प्रतिपादन जैनत्व को गरिमापूर्ण स्थान दिलाता है। निर्लाछंन क्रिया पशुओं पर अत्याचार का भयावह रूप था। बैल, भैंसा तथा अन्य पशुओं को पालतू बनाने तथा उन से काम लेने के लिए उन्हें नपुंसक बनाया जाता था। उस प्रक्रिया में उनके गुप्तांगों-अण्डकोषों को किसी यन्त्र आदि से कुचला जाता था, पशु भीषण यातना से गुजरता था। ऐसी निर्मम क्रिया को भगवान् ने निषिद्ध किया। बैल के नाक में नाथ डालते समय, ऊंट को नकेल डालते हुए, घोड़ों को तनाल (खडताल) लगाते समय यदि अत्यधिक यातनाएं दी जाती हों तो कर्मादान बनेगा और अत्यधिक पीड़ा की संभावना न हो तो कर्मादान नहीं है। इसमें ये ध्यातव्य है कि केवल अपने घरेलू उपयोग के लिए एक दो पशु को निर्लाञ्छित किया, करवाया जाए तो कर्मादान नहीं होगा। कर्मादान तो व्यवसाय के रूप में अपनाने पर कहलाएगा। आधुनिक शल्य चिकित्सा में Sterlization की पद्धति विकसित हुई है जिससे पुरुष या नारी की प्रजनन प्रक्रिया अवरुद्ध की

जाती है। लेकिन वह अत्याचार, पीड़ा रूप नहीं होने से कर्मादान नहीं है। इसी पद्धति का आश्रय लेकर आवारा कुत्तों की संख्या वृद्धि रोकने हेतु Sterlizatoin किया जा रहा है, वह भी सदोष नहीं माना जाएगा

दवाग्नि दाह से वन्य पशु-पक्षियों का अनियन्त्रित विनाश हो जाता है इसलिए ये वर्जित हैं। सरोवर-झील आदि सुखाने में, भराव करने में हज़ारों लाखों जल जन्तु, मछली, कछुए, ग्राह, मकर आदि का वध होता है, इस कारण ये व्यवसाय भी धर्म विरूद्ध हैं।

असती जन पोषण व्यवसाय के माध्यम से कुछ लोग अनैतिक दुराचार पूर्ण कार्य करवाते रहे हैं। इस व्यवसाय में बालक बालिकाओं की कोमल भावना, निर्धनता, विवशता आदि का शोषण होता है। माफिया गिरोहों के सरगना लोग, गुण्डों का संरक्षण करके अपनी दादागिरी चलाते हैं यह भी मानव समाज के प्रति घोर अन्याय है, अतः वर्जनीय है।

संसार तेजी से बदल रहा है, व्यवसाय भी तेजी से बदल रहे हैं। इस तेज़ प्रक्रिया में नया तत्व उभरकर सामने आया है– भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि। जैनों को इन पर पाबन्दी लगाने की पहल करनी चाहिए। इन्हें कर्मादान घोषित करके बहिष्कृत करने का साहस करना चाहिए ताकि भगवान् महावीर का मौलिक भाव पूरा हो सके। जैनों की प्रतिष्ठा का ग्राफ बहुत ऊंचा नहीं रहा है। इनके व्यापारों में मिलावट, बेईमानी, झूठ, चोरी ऊंची ब्याज खोरी का प्रतिशत नार्मल (Normal) से ज्यादा पाया गया है। काफी आर्थिक अपराधों में जैन संलिप्त पाए गए और प्रमाणित हुए हैं। आवश्यकता है इस अप्रतिष्ठा के दाग को भी जैन समाज धोए तथा गुरुजन भी इस दिशा में मार्गदर्शन करें।

इस्लाम ने विश्व के सामने अद्भुत कदम उठाया था तथा सूद खोरी को इस्लाम से निकाल फैंका था। जैन समाज इतनी सीमा तक नहीं जा सकता तो कोई बात नहीं पर बड़ी-2 दरों पर सूद (ब्याज-Interest) लेने पर तो धार्मिक और सामाजिक पाबन्दी लगानी ही चाहिए। दक्षिण

भारत में Pawn brokers गिरवी का धन्धा करने वालों में भी जैनों की खासी संख्या है और अधिकांश व्यापारियों का धंधा मानवीय शोषण का घृणित नमूना है।

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की गोदी में चिपट जहां जाड़े की रात बिताते हैं॥
नारी का लज्जा वसन बेच जहां ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

एकेन्द्रिय जीवों की सुरक्षा को साधु-साध्वी के साथ रहने दें। गृहस्थ से उसे जबरन न जोड़ा जाए तो अच्छा है क्योंकि वह स्थूलता के धरातल पर जीता है। बड़ी विचित्रता प्रतीत होती है तब जब सत्य-अस्तेय के स्थूल स्तर को भी दर किनार करने वाले श्रावक अहिंसा के मसले में सूक्ष्मता की राह पकड़ लेते हैं। दूसरे शब्दों में अहिंसा की सूक्ष्मता में जीने वालों के पास सत्य-अस्तेय का स्थूल रूप भी नहीं मिलता। कदम-2 पर, बात-2 में असत्य और बेइमानी करने वाले श्रावक अहिंसा के मामले में इतनी बारीकी तक पहुंच जाते हैं कि देखने वाला चक्कर खा जाता है। इस विषमता को दूर करके अपने-2 स्तर पर जीने में निश्चय और व्यवहार धर्म का निर्वाह होगा। जैन आगमों में, विशेषतया कथानुयोग भाग में झांक कर देखें तो लगता है कि आगमकारों ने सूक्ष्म अहिंसा के विषय को सामान्य श्रावक से जोड़ा ही नहीं। तीर्थंकरो के अभिषेक पर विश्व के सब तीर्थों का पानी लाया और बहाया जाता है। दीक्षा प्रसंगों पर, चाहे किसी की भी हो, सारी नगरी में छिड़काव होता है, सिंचाई होती है, फूलों के ढेर लगाए जाते हैं, झण्डे लहराए जाते हैं, बाजे बजाए जाते हैं। तीर्थंकरो के दर्शन के लिए जाने वाले अधिकांश व्यक्ति नहा-धोकर, सज-धजकर, फूलों की माला पहनकर जाते हैं। किसी श्रेष्ठी के भवन का चित्रण हो या राज महल का, धूप अगरबत्ती की भव्य गन्ध, पुष्प, शृंगार, मणिरत्नों की सजावट का निराला चित्रण मिलता है। सैंकड़ों स्थलों पर स्थावर कार्यों

का प्रचुर प्रयोग मिलता है। क्या ऐसी जीवन शैली में श्रावक-श्राविकाओं से भगवान् अपेक्षा करते कि वे अपने व्यवसाय से एकेन्द्रिय जन्य हिंसा को दूर करें। वस्तुतः सूक्ष्म अहिंसा को श्रावकों का मूल विषय ही नहीं रखा। जिन जीवों की जीवन्तता को मानने के लिए सर्वज्ञों पर श्रद्धा ही आधार हो, या वैज्ञानिकों के विकसित उपकरणों का सहारा लिया जाता हो, सहज बुद्धि जिन्हें जीव मान ही नहीं सकती, उनकी रक्षा के लिए श्रावक बाध्य नहीं है। आचारांग के प्रथम अध्ययन में पृथ्वी, जल अग्नि और वायु की विराधना का साधु वर्ग के लिए निषेध करते हुए इनसे संबद्ध त्रस हिंसा का हवाला दिया है अन्यथा सीधे तौर पर तो इनकी हिंसा छोड़ना भी अबुद्धि गम्य बन जाता। संति पाणा पुढो सिया (पृथ्वी पर, पृथ्वी के अंदर त्रस जीव भी बहुत होते हैं) संति पाणा उदय निस्सिया जीवा वियाहिया (पानी के अंदर अनेक चलते फिरते प्राणी होते हैं) "(संति पाणा पुढवि निस्सिया, तण निस्सिया, पत्त निस्सिया, कट्ठ निस्सिया, गोमय निस्सिया, कयवर निस्सिया, संति सम्पातिमा पाणा आहच्च संपयंति य अगणिं य खलु पुट्ठा एगे संघाय मावज्जंति)"

अग्नि जलाने के लिए मिट्टी, तिनकों पत्तों लकड़ियों, गोबर, कचरे में रहे हुए त्रस जीव भी मर जाते हैं, आकाश में उड़ने वाले छोटे-2 जीव भी सम्पर्क पाते ही झुलस जाते हैं, मर जाते हैं। वायु की तीव्रता में भी उड़ने वाले पतंगे, पक्षी मर जाते हैं। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की हिंसा साधु को नहीं करनी चाहिए।

केवल वनस्पति काय के जीवों की जीवन्तता के लिए आचारांग में वैज्ञानिक विधि से प्रतिपादन दिया है। बाकी चार की रक्षा के लिए तो त्रस हिंसा का हवाला देना पड़ता है। जब मुनियों के लिए इतनी सावधानी आगमकारों ने रखी है तो आधुनिक चिंतको को श्रावकों के लिए भी रखनी चाहिए। उनके कामों को त्रस की तुला से ही तोलें स्थावर की तुला से नहीं।

पृथ्वी, जल आदि के प्रयोग के समय गृहस्थ उपयोगिता को ही ध्यान में रखता है। उनके प्रति क्रूरता निर्दयता का भाव उत्पन्न नहीं होता। पशुओं के प्रति वह क्रूर और निर्दय हो सकता है। मनुष्यों के प्रति क्रूरता, निर्दयता के साथ द्वेष और शत्रुता भी रख सकता है। हिंसा का स्वरूप क्रूरता, शत्रुता आदि मानसिक दोषों से जुड़ा हुआ अधिक है और इस दिशा में श्रावकों को बचना और बचाना है। एकेन्द्रिय की हिंसा महारंभ न होकर अल्पारम्भ में गिनी गई है। हमें अपनी धारणाओं पर पुनः पुनः विचार करते रहना होगा अन्यथा कई आवश्यक तत्व निष्कासित हो जाएंगे।

पुनः निवेदन है कि उपर्युक्त विचारों को सकारात्मक सही परिप्रेक्ष्य में लें, किसी के विरोध के रूप में नहीं।

श्रावक- प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में एक चिन्तन

(श्रावक प्रतिक्रमण में विभिन्नता को रोकें)

धर्म एक आत्मानुभूति है, जो प्रत्येक आत्मा को स्वतः ही अनुभव करनी होती है। यह एक व्यक्तिगत घटना है, जिसको परिवार या समाज के स्तर पर लागू नहीं किया जा सकता। जिस भी हृदय में भक्ति की भावना उमड़ती है वह किसी आराध्य के स्वरूप में लीन और प्रणत हो जाता है। जिस भी हृदय में आत्म संशोधन की हूक उठती है वही त्याग के सोपानों पर आरोहण करने लगता है। अपने आंतरिक दुष्परिणामों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। क्षमा, संतोष, पश्चात्ताप, समर्पण आदि शत-सहस्र उदात्त भावों का जन्म मानव हृदय की भूमि में होते ही जीवन हरा-भरा होने लगता है। असीम आह्लाद की उस अवस्था में पहुँचने के बाद एक और विचार जन्म लेता है कि जो परम आनंद मुझे प्राप्त हो रहा है वह आनंद मैं अपने परिवार और परिवेश में भी वितरित करुँ। जिस विधि और क्रिया से मुझे वह उत्तम उपलब्धि हुई है उस विधि और क्रिया को अन्य व्यक्ति भी अपनाएँ और वे भी उस महान वरदान के पात्र बनें। वह औरों को देने के विचार से अपना एक वर्ग तैयार करता है जिसमें उसका परिवार, बंधुजन, परिचित तो सम्मिलित होते ही है अज्ञात और अपरिचित जन भी आ मिलते है। एक संगठन का निर्माण हो जाता है और यहीं से धर्म का मौलिक स्वरूप विकृत और दूषित होना प्रारंभ हो जाता है। क्योंकि संगठन-तीर्थ और संघ में परिवर्तन होने पर आध्यात्मिक न रहकर समाजिक हो जाता है विस्तार को देखते हुए तो लगता है कि धर्म ने विकास कर लिया मगर सार की तरफ नजर करें तो लगेगा कि धर्म का ह्रास हो गया। क्योंकि संगठन में सम्मिलित अधिकांश व्यक्तियों के मन में वह पुकार, वह दर्द वह जिज्ञासा नहीं उमड़ी जो मूलनायक में उमड़ी और उपजी थी। वे केवल उस नायक द्वारा प्रस्तुत की हुई व्यवस्था को मान्य करते है

तदनुसार आचरण भी करते है, प्रत्येक विधि विधान का वफादारी से निर्वाह भी करते है। परंतु उनका हृदय उसमें नहीं होता और एक द्रव्य धर्म हानी हो जाता है जन मानस पर, भाव धर्म गुम हो जाता है किन्हीं अज्ञात मरूस्थलियों में। संसार के विभिन्न धर्मों की तर्ज पर ही जैन धर्म भी इस द्रव्य धर्म का शिकार रहा है। सबसे अधिक व्यक्तिवादी चिंतन धारा होते हुए भी इस धर्म पर संघ व्यवस्था का पूरा अंकुश रहा है। संघ बनना बनाना उपयोगी होते हुए भी आत्मा की स्वतंत्रता का बाधक बने तो उसे उपेक्षित करना पड़ेगा। जैन धर्म में कितना स्पष्ट चिंतन है कि शिष्य को गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए पर साथ ही ये भी उद्घोष है कि हर आत्मा अपना गुरु है, कोई किसी का गुरु नही है। गुरु की महत्ता को स्वीकारते हुए भी ये कहा है कि गुरु किसी को मुक्ति नहीं दे सकता, अपने आचरण से ही मुक्ति प्राप्त होगी। इससे बढ़कर ये घोषणा की कि शिष्य गुरु से पहले कल्याण कर सकता है। गुरु नरक में भी जा सकता है और शिष्य मोक्ष में। इससे बढ़कर और व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद कहीं अन्यत्र कहाँ मिलेगा? तीर्थंकर भी मुक्ति संकेत कर सकते है। मुक्ति दान नहीं कर सकते। गुरु की मान्यता रखते हुए भी जैन धर्म गुरुडम के शिकंजे से बचा रहा, यहाँ गुरु को मानने और परखने का प्रावधान साथ-2 रखा गया है। गुरु की तरह ही ग्रंथों की Authority के संबंध में भी जैन धर्म बहुत ऊँचे धरातल का विचार दे पाया है। उस युग में वेदों की सर्वोच्चता को नकारना एक कठिन कार्य था, पर म. महावीर ने वह भी कर दिखाया। **"वेया अहिया न हवन्ति ताणं"** वेदाध्ययन भी जीव का त्राण नहीं कर सकता। जैन धर्म में शब्दों की स्वतः प्रमाणता कभी नहीं रही। वक्ता की योग्यता और श्रोता की दृष्टि को ही यहाँ प्रमुखता दी गई है। यदि वक्ता यथार्थ वेदी है तो उसके वचन मान्य है तथा यदि श्रोता की दृष्टि सम्यक् है तो उसके लिए प्रत्येक शब्द उपयोगी है। अन्यथा न किसी के वचन प्रमाण है तथा न कोई शब्द श्रोता के लिए सहायक हो सकता है। भ. महावीर ने आत्मा के लिए प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र और काल को उपयोगी और अनुपयोगी दोनों

बताया है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि कोण है तो प्रत्येक वस्तु उपयोगी है और यदि दृष्टिकोण आध्यात्मिक होने की बजाय लौकिक है तो वही वस्तु अनुपयोगी भी हो सकती है। **"जे आसवा ते परिसवा जे परिसवा ते आसवा"** जो विधि अनुष्ठान आचरण या द्रव्यादि किसी एक के लिए, किसी एक समय में कर्मबंध का कारण बनते है वहीं विधि अनुष्ठान आदि अन्य व्यक्ति के लिए, अन्य समय में कर्म निर्जरा के कारण भी बन सकते है तथा इसके विपरीत कर्म निर्जरा के हेतु कर्म बंध के कारण भी बन जाते है। म. महावीर का ये विशुद्ध प्रतिपादन ही स्याद्वाद, अनेकांतवाद का आधार रहा है और इसी प्रतिपादन के बलबूते पर जैन धर्म में सामूहिकतावाद बहुत अधिक हावी नहीं हो पाया। क्योंकि जब धर्म में समूहवाद प्रभावशाली हो जाता है तब वह जन चेतना का उन्नायक बनने की बजाय निरंकुश विनाशक-शासकों का हथियार-औजार बन जाता है। जैसा कि कुछ पश्चिमी एशियाई धर्मों के साथ हुआ है। इस्लाम और ईसाईयत में धर्म कुछ बाह्य क्रिया काण्डों तक ही सीमित रह गया था तथा उन-2 पद्धतियों के संचालकों ने सामान्य प्रजा को जबरदस्ती उन-2 क्रिया-काण्डों से बाँधे रखा। यदि कहीं विद्रोह के मंदस्वर उभरे तो उन्हें सख्ती से कुचल दिया गया। वहाँ सामान्य मानव से ये पूछना बंद कर दिया कि इस धर्म क्रिया से तुझे कुछ मानसिक आध्यात्मिक तृप्ति हो रही है या नहीं, बस उसे एक रेखा पर चलना ही पड़ेगा। अन्यथा वह काफिर और नास्तिक घोषित हो जाएगा। उसे अपनी नास्तिकता की सजा भोगने के लिए परमात्मा पर ही नहीं छोड़ा अपितु धर्म गुरुओं ने स्वयं उसे दण्डित किया। इतना अधिक दबाव शब्दों, ग्रंथों और पद्धतियों का बढ़ गया कि वैयक्तिक चेतना नष्ट प्रायः हो गई।

जैन धर्म से उतना तो नहीं पर कुछ-2 मंद मात्रा में वैसा ही आग्रह समय-2 पर पनपा है और उसके परिणामस्वरूप जैन धर्म विभाजन का शिकार हुआ जैसे कि अपरिग्रह, एक समय के भोजन, अचेल आदि

शब्दों के कठोर आग्रह से दिगम्बर श्वेतांबर के रूप में जैन धर्म बँटा। बाद में अन्यान्य छोटे-2 मुदे आए और बँटवारा बढ़ता गया कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति अप्रबुद्ध जनता की श्रद्धा को बड़े आराम से शब्दों की चट्टान पर छिन्न भिन्न कर सकते है। प्रबुद्ध वर्ग को अनुयायी दल बनाने में कोई ज्यादा मेहनत की जरूरत नहीं पड़ती, केवल उसकी कोमल श्रद्धाओं का दोहन करने की कला आनी चाहिए। वर्तमान में स्थानकवासी समाज भी इसी दोहन की प्रक्रिया से गुजर रहा है और एक असमंजस की स्थिति स्थान-2 पर बन रही है। एक छोटा सा विषय जो चर्चा से बढ़कर विवाद और विसंवाद का रूप धारण कर चुका है वह है **"प्रतिक्रमण का स्वरूप"**

इस मामले में जितने भी पक्ष है वे सभी शब्दों की, विधि की घेरेबंदी से संबंधित है। किसी भी पक्ष को भाव शुद्धि या आध्यात्मिक उपलब्धि से सरोकार नहीं है बस सभी अपने-2 ढंग से पाठों के उच्चारण को लेकर उलझ रहे है। ऐसे में किसी अध्यात्म प्रेमी का कोई रोल इस समस्या के समाधान में नहीं हो सकता पर चूंकि अध्यात्म रसिक व्यक्ति की सामाजिक तो होते ही है अतः समाज की उलझन को समाहित करने में उसका प्रयास भी होना ही चाहिए। इसी विचारधारा के अंतर्गत कुछ बिंदु जागरुक समाज के समक्ष प्रस्तुत किए जा रहे हैं

तीन प्रमुख विवादास्पद् बिंदु

1) श्रावकों के प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र को समाविष्ट किया जाए या नहीं।

2) चौमासी और संवत्सरी पर साधु और श्रावक दो प्रतिक्रमण करें या एक।

3) पक्खी, चौमासी संवत्सरी पर कायोत्सर्ग क्रमशः 12, 20 40, लोगस्स का किया जाए या 8, 12, 20 का।

इन विषयों की विस्तृत चर्चा से पूर्व एक निवेदन है कि प्रतिक्रमणों की विविधता साधु-साध्वी के लेबल पर भले बनी रहे पर श्रावकों के लेबल पर एकरूपता होनी चाहिए क्योंकि साधु-साध्वी की तो अनेक चर्याएँ और भी ऐसी हैं जिनमें वैविध्य है और साधु साध्वी इस वैविध्य को सहज रूप से संभाल सकते है जबकि श्रावक वर्ग में विविधत विषमता, विरोध और वितण्ड़ावाद को जन्म देती है। साधु साध्वी आध्यात्मिक जीवन के निर्वाहक होते है जबकि श्रावक श्राविकाएँ सामाजिक जीवन के। श्रावकों की धर्म क्रियाएँ उनकी निजी ही नहीं होती अपितु सार्वजनिक भी होती हैं और प्रतिक्रमण तो विशेषतः सामाजिक क्रिया है। समाज में एकरूपता ही काम्य और कर्मनीय होती है। अतः मेरा अनुरोध है कि श्रावकों के प्रतिक्रमण के साथ छेड़छाड़ करने के परिणाम अच्छे नहीं आएँगें, हाँ मुनिवर्ग किसी भी ढंग से चले, किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। यदि श्रावक प्रतिक्रमण भी एकांततः व्यक्तिगत धर्म क्रिया होती तो भी किसी को ऐतराज नहीं होता, लेकिन श्रवक प्रतिक्रमण वो भी पक्खी, चौमासी, संवत्सरी के पर्व दिवसों पर सामूहिक-सामाजिक घटना है अतः उस में से द्विरूपता नानारूपता का निराकरण ज्यादा जरूरी है। द्विरूपता होने पर सही गलत, शुद्ध-अशुद्ध आगमिक-अनागमिक के झगड़े ठण्टे प्रारंभ हो ही जाएँगे अतः सामाजिक शांति की बहाली के लिए एकरूपता बनाइए।

अब आइए प्रथम विषय पर

1) श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र का उच्चारण

आगमों के पुनःपुनः अवलोकन के बाद एक तथ्य उभर कर आया है कि भ. महावीर के युग में प्रतिक्रमण श्रावक चर्या का अंग था ही नहीं। आनंद आदि श्रावक पर्व तिथियों पर पौषध करते थे, ढलती उम्र में प्रतिमाओं का पालन करते थे, भगवच्चरणों में प्रवचन श्रवण प्रश्नोत्तर आदि करते थे पर प्रतिक्रमण करते थे ऐसा कहीं किसी भी प्रसंग में देखने में नहीं आया। श्रावक प्रतिक्रमण के अभाव का सबल प्रमाण ये

है कि श्रावक के व्रतों से संबंधित एक भी प्राकृत भाषा का आगमिक पाठ आज तक उपलब्ध नहीं है। आज श्रावक प्रतिक्रमण में जो-2 पाठ है वे सब इधर उधर से संकलित करके पश्चाद्वर्ती साधुओं या श्रावकों ने जोड़े है। जिनमें कुछ पाठ राजस्थानी, गुजराती-हिन्दी भाषा के हैं तथा कुछ में प्राकृत की भी Mixing की हुई है। वस्तुतः श्रावक की जीवनचर्या इतनी काल-बद्ध नहीं हो सकती कि वह नियत समय पर अपना प्रतिक्रमणादि कर सके। केवल **अनुयोग द्वार के** रचयिता आचार्य आर्यरक्षित ने भगवान् महावीर के छः सौ वर्ष बाद। (596 वर्ष बाद) आवश्यक को साधु साध्वी के अतिरिक्त श्रावक श्राविकाओं से भी जोड़ा है।

"लोगोत्तरियं भावावस्वयं जण्णं इमं समणो वा समणी वा सावए वा साविया वा तच्चियत्तं..... उभयोकालं आवस्सयं करेति"

समणेण सावएण य अवस्स कायव्वं हवन्ति जम्हा अंतो अहो निसिस्स उ तम्हा आवस्सयं नामं"

भ. महावीर के छह शतक तक श्रावकों के लिए प्रतिक्रमण की उपयोगिता महसूस की जाने लगी थी, अतः आचार्य ने इस तीर्थ को भी प्रतिक्रमण से प्रतिबद्ध कर दिया। यदि इससे पूर्व श्रावक प्रतिक्रमण की व्यवस्था होती तो दिगंबर परंपरा में भी उसका प्रचलन अवश्य होता। वहाँ प्रतिक्रमण का नितांत अभाव होने में ऐसा प्रतीत होता है कि कई सदियों तक– दिगंबर श्वेताबर विभाजन तक– श्रावक प्रतिक्रमण नाम की कोई चीज़ नहीं थी। **उत्तराध्ययन सूत्र के** 29वें अध्ययन में प्रतिक्रमण की जो फल श्रुति बताई है उसमें भी साधुचर्या का ही वर्णन है, न कि श्रावक चर्चा का। प्रतिक्रमण से व्रतों के छिद्र बंद हो जाते है। फिर आस्रव निरोध होता है, चारित्र की शबलता रुकती है। आठ प्रवचन माता में उपयोग बढ़ता है... आदि। ये शब्द कहीं भी श्रावक प्रतिक्रमण की ओर संकेत नहीं करते। आ. आर्यरक्षित के युग तक श्रावक आवश्यक प्रारंभ हुआ और उन्होंने इस शुरूआत का मंडन किया ताकि

वह भी मुनियों की तरह अपने व्रतों की शुद्धि करके संतुष्टि का अनुभव कर सके। मगर उस युग के श्रावक अपने व्रतों की शुद्धि किस विधि से, किन पाठों से करते थे इसका कोई भी दस्तावेज किसी के पास नहीं है। आर्य रक्षित का संकेत पाकर किन्हीं स्थविर भगवंतो ने श्रावकों के लिए प्रतिक्रमण की रूप रेखा बनाई होगी और क्रमशः श्रावक वर्ग में उसका स्वागत भी हुआ होगा। जो श्रावक श्राविकाएँ सांसारिक दायित्वों के भार से काफी मुक्त हो चुके होंगे उन्होंने प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना प्रारंभ किया होगा। किसी ने दो समय, तो किसी ने एक समय। कोई-2 पंद्रह दिन में तो कोई 4 माह में तथा अधिकांश श्रावक श्राविकाएँ वर्ष में एक बार प्रतिक्रमण करके संतुष्टि का अनुभव करने लगे। उस प्रारंभिक काल में श्रावक के ज्ञान, दर्शन, चारित्राचरित्र तथा तपाचार से संबंधित कुछ पाठ प्राकृत भाषा में बनाए होंगे जो आज तक भी मूर्तिपूजक समाज के श्रावक प्रतिक्रमणों में उपलब्ध हैं। संक्षेप शैली में पंचाचार की 8 गाथाएँ है तथा विस्तार शैली में 50 गाथाएँ है। **"नाणंमि दंसणम्मि अ चरणमि"** आदि 8 गाथाएँ संक्षिप्त शैली का प्रतिक्रमण है तथा **वंदित्तु सव्व सिद्धे धम्मायरिए...** आदि 50 गाथाएँ विस्तार शैली का प्रतिक्रमण है। इसके पश्चात् इस प्रतिक्रमण में बहुत कुछ बढ़ने लगा। मूर्ति पूजा के प्रवेशके बाद तो इसमें चैत्य वंदना आदि के पाठ भी सम्मिलित किए जाने लगे। दिवस एवं रात्रि के प्रतिक्रमणों में भी कुछ-2 परिवर्तन होने लगा। पाक्षिक प्रतिक्रमण तो काफी दीर्घतर बनता गया। चौमासी और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण भी दीर्घतर ही बने। क्रमशः अपभ्रंश भाषा संस्कृत भाषा के श्लोक भी जुड़े। जब प्रांतीय भाषाओं का विकास हुआ और उनमें काव्य रचना होने लगी, तब स्थानीय, प्रांतीय भाषाओं के पद भी जुड़ते गए और प्रतिक्रमण व्रतों के अतिचार शोधन की प्रक्रिया ही न रहकर एक भक्ति-काव्य का संगृहीत ग्रंथ बन गया। बहुत कुछ वृद्धि होने के बाबजूद किसी भी आचार्य ने श्रमण सूत्र के पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में शामिल नहीं किए क्योंकि उनकी प्रासंगिकता ही नहीं बनती। उन्हें ऐसा करना "अव्यापारेषु व्यापारः" ही लगा होगा।

मूर्ति पूजक समाज के भिन्न-2 गच्छों में श्रावक प्रतिक्रमण का परिमाण बढ़ते-2 कहीं-2 चार पाँच हजार श्लोक प्रमाण हो गया है। पर श्रमण सूत्र के संस्पर्श से सभी गच्छीय श्रावक बचे रहे। जब वीर लोकाशाह के कारण जैन समाज ने नई करवट ली तब पुरातन पद्धतियों को काफी कुछ बदला गया। पाँच क्रियोद्धारक महापुरुषों ने तो इतना कुछ बदला कि एक नई पहचान ही कायम हो गई। साधुओं की आचरण पद्धति तो बदली ही, साथ ही श्रावकों की भी बहुत अंशो में परिवर्तित हुई। श्रावकों का घरेलू जीवन तो बदलना शक्य नहीं था पर धर्मिक जीवन जरूर बदला। पूजा पाठ में जितना समय व्यतीत होता था अब वह सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषधादि में लगने लगा। श्रावक प्रतिक्रमण को भी नए सिरे से तैयार किया गया। उसे जन ग्राह्य बनाने के लिए लगभग सारे पाठ गुजराती भाषा में रचे गए क्योंकि क्रियोद्धार-क्रांतियों का केंद्र गुजरात रहा था। अधिकांश महापुरुषों के अनुयायी श्रावकों ने अपने प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र को प्रवेश नहीं दिया, पर कुछ प्रमाण ऐसे मिलते है कि पू. लवजी ऋषि जी म. के तीसरे पाठ पर विराजमान श्री कहना ऋषिजी म. के श्रावक, पू. श्री धर्मदास जी म. की कुछ टोलियों श्रावक पू. एकलिंगदास जी म. के श्रावक तथा गुजरात को छह कोटि तथा आठ कोटि संप्रदायों के श्रावक श्रमण सूत्र बोलते थे किस उद्देश्य से उनमें इसका प्रचलन हुआ– यह समझ से बाहर है पर संवत 90 (सन् 1933) में अजमेर सम्मेलन पर उपस्थित सकल संप्रदायों ने श्रावकों की एकरूपता को स्थापित करने के लिए श्रमण सूत्र की परंपरा बंद कर दी। जो एक उत्तम एवं यथार्थपरक निर्णय था। परंतु पिछले दो दशकों से इसका कहीं-2 पुनः प्रवेश हुआ है। फलस्वरूप अनावश्यक चर्चाओं ने जन्म लिया। प्रवेश कराने वालों का मुख्य उद्देश्य क्या है, ये तो कौन कह सकता है पर श्रावक वर्ग संदेह ग्रस्त तो हुआ ही है। समर्थकों का तर्क है कि श्रावक दया, संवर प्रतिमा आदि में लगे अतिचारों की शुद्धि साधूचित पाठों से कर सकता है। परंतु श्रावक प्रतिक्रमण सामान्य गृहस्थ के निमित्त बनाया गया है न कि कुछ विशिष्ट

वर्ग के लिए। जिन श्रावकों को रात्रि में मैथुन सेवन का त्याग नहीं है जब वे निद्रा में स्वप्न दोष की मिच्छामि दुक्कड़ं लेंगे तो क्या यह हास्यास्पद् नहीं लगेगा। समग्र जीवन रसोई बनाने वाली बहनें होटलों, ढाबों पर खाना खाने वाले युवक जब गोचरी के दोषों की आलोचना करते हैं तो क्या उन्हें अपनी वाक्यावली पर खीज पैदा नहीं होती। दिनभर कामधंधों में मशगूल गृहस्थ चार काल की स्वाध्याय न करने का खेद प्रकट करते हैं। जिनके घरों में समान के ट्रंक भरे पड़े है, गोदामों में टनों माल भरा पड़ा है वे प्रतिलेखना न कर पाने की पाठ दुहराते है। कितना बड़ा मजाक है! श्रमण सूत्र के अंतिम वाक्यों में "मैं श्रमण हूँ" इस वाक्य में जब मृषावाद की दुहाई दी गई तो समर्थकों ने 'श्रमण संघ' शब्द में श्रावक श्राविका के होने का प्रमाण दे दिया पर तटस्थ रूप से विचार करें तो उसी पाठ में श्रमण और श्रावक का विभाजन करके स्पष्ट कर दिया कि श्रमण शब्द का प्रयोग केवल महाव्रती के लिए किया जाए, न कि अणुव्रती के लिए। स्थानकवासी जैनों द्वारा मान्य 32 आगमों में तो किसी भी आगम में श्रावक गृहस्थ के लिए श्रमण शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है। फिर इसी स्थान पर श्रमण शब्द को श्रावक का वाचक कैसे कहा जा सकता है। क्या किसी भी परंपरा द्वारा प्रकाशित श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र का नाम आज तक "श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र" लिखा है। यदि ये परंपराएँ श्रमण शब्द का वाच्यार्थ श्रावक मानती है तो उन्हें "श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र" का व्यवहार करना चाहिए था। तब उनकी ईमानदारी निसंदिग्ध रहती। इसी के समतुल्य दो और शब्द है केवली और पुद्गल। केवली शब्द अवधिज्ञानी, मनः पर्यायज्ञानी तथा केवलज्ञानी के लिए आगमों में मान्य किया है पर प्रयोग केवल सर्वज्ञ के लिए ही हुआ है और होता है। भगवती सूत्र से पुद्गल शब्द में "आत्मा" अर्थ भी लिया है। **"आया खलु पोग्गले वि पोग्गली वि"** या सूत्रकृतांग के 13वें अध्ययन की 15वीं गाथा में 'उत्तम पुग्गले' शब्द में आत्मा अर्थ सूचित हुआ है। (किन्हीं आचार्यों ने आत्मा अर्थ मान्य नहीं किया)। परंतु जैन साहित्य में अधपर्यन्त वर्ण गंध रस

स्पर्शवान् द्रव्य के लिए ही पुद्गल शब्द प्रयुक्त हुआ है। न कि आत्मा के लिए। श्रमण संघ में श्रावक को भी शामिल करने मात्र से श्रावक श्रमण नहीं हो जाता। आम्रवन में यदि दाड़िम का वृक्ष भी हो तो आम्र शब्द का अर्थ दाड़िम तो नहीं हो सकता। अतः "मैं श्रमण हूँ" ये वाक्य श्रावक के मुख पर सजता ही नहीं है। कुल मिलाकर अर्थ यही निकलता है कि श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र को पढ़ना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। श्रावक प्रतिक्रमण पहले ही बहुत भारी हो चुका है। उसे शब्दों के भार से और बोझिल न करें तो अच्छा है। छोटा सा प्रतिक्रमण हो और श्रावक उसे तन्मयता से उपयोगपूर्वक करें तो उसकी श्रावक वृति कुछ निर्मल हो। पाठों की अधिकता से उसको चिंतन का समय मिलना ही बंद हो रहा है जो आगे और Congested हो जाएगा। अब तो 25 मिध्यात्वों तथा समूर्च्छिम के 14 स्थानों के पाठ और जुड़ गए है जो न कभी श्रावक प्रतिक्रमण में थे और न श्रमण प्रतिक्रमण में। कहाँ रुकेगा ये पाठ-वृद्धि का अनधिकृत प्रयोग? पाँच पदों की वंदना, सव्वैये बढ़े अब उनमें भी नया विषय जोड़ा जा रहा है 84 लाख योनि, कुल कोटि, 10-15 दोहे आदि की वृद्धि समग्र समाज ने मान्य कर ली तो चली आ रही है अन्यथा ये कलवेर वृद्धि लक्ष्य-सिद्धि में साधक होने की बजाय बाधक ही रही है 95 प्रतिशत श्रावकों को पाठ पूरे करने की जल्दी होती है। अतिचार शुद्धि की नहीं। कारण स्पष्ट है कि हम भावों की बजाय शब्दों के पुजारी बने हुए है। यदि श्रावकों के प्रतिक्रमण में कुछ अच्छी सामग्री और जोड़नी है तो पहले सर्व सहमति बनाई जाए और श्रावक के जीवन से सम्बद्ध विषय सम्मिलित कर दिए जाएं। मूर्ति-पूजक समाज के श्रावक-प्रतिक्रमणों में ऐसी सैंकडों गाथाएँ है। जो चैत्य मूर्ति में असम्बद्ध भी है और प्रेरणादायी भी है। उन्हें भी शामिल करने की भावना किसी विचारशील व्यक्ति के मन में आ सकती है और यदि साधूपयोगी पाठ ही श्रावक प्रतिक्रमण में संजोने है तो पाँच समिति, 3 गुप्ति, 5 स्थावर, 4 त्रस, 5 महाव्रत रात्रि भोजन विरमण आदि के पाठ अधिक सार्थक सिद्ध होंगे। हाँ, समवायांग सूत्र के 33 बोल के सभी

पाठ उद्धृत करके क्यों न श्रावक प्रतिक्रमण में शुमार कर लिये जाएं। मगर फिर वही बात कि क्यों हम श्रावक के ऊपर साधुत्व की बातें थोंपे, अपनी हैसियत के काम करें तो ज्यादा समीचीन रहेगा।

जैसे बड़े राजमार्गों पर तीव्रगति, मध्यम गति तथा मंदगति के वाहनों के लिए अलग-2 लेन (परिपथ) बनी हुई होती है यदि वाहन अपनी-2 लेन में चलें तो दुर्घटना से बचाव रहता है ऐसे ही श्रावक अपनी लेन में चले, श्रमण अपनी लेन में तो सहूलियत और सुंदरता बनी रहेगी। Lane Crossing में जिन्हें मजा आता है वे दुर्घटनाओं को भी आमंत्रण देते है।

अब मैं पर्व-तिथियों पर दो प्रतिक्रमणों की चर्चाओं से रु-बरु हो रहा हूँ। **तीन चतुर्मासियों तथा एक सवंत्सरी कुल** 4 दिनों में दो प्रतिक्रमणों का वाचन होता है और ये चार दिन ही आज असंतोष, वैमनस्य, विद्वेष भी भूमिका का निर्माण करने लगे है। 356 दिनों से किसी को किसी से उपालंभ नहीं मिलता पर ये चार दिन शेष दिनों भी मधुरता को भी कटुता में बदल रहे हैं। कुछ धर्म स्थानों में इन विवादों से आजिज आकर ऐसे बैनर टंगे देखे है जिनमें अंकित होता है कि "दो प्रतिक्रमण करने वाले श्रावक और साधु इस स्थानक में न ठहरें।" इन बैनरों को देखकर लगता है कि ये एक विस्फोटक मामला बन चुका है। क्यों नहीं इसकी विस्फोटकता को न्यून कर लें? पहले मुद्दे की अपेक्षा इस दूसरे मुद्दे के पीछे अधिक पुराना इतिहास और आगमिक उदाहरण रहा है। स्थानकवासियों से पूर्व मूर्ति पूजक समाज में भी दो प्रतिक्रमण करने की परंपरा रही है तथा स्थानकवासियों की संप्रदायों में भी कई परंपराएँ चौमासी संवत्सरी पर दो प्रतिक्रमण को मान्यता देती रही है। Practically कुछ संप्रदायें दो प्रतिक्रमण नहीं भी करती रही हो पर Theoretically इस व्यवस्था को मान्यता देती रही है। पंजाब के मूर्धन्य आचार्य श्री आत्माराम म. द्वारा संपादित अत्यंत प्राचीन एक साधु प्रतिक्रमण की पुस्तक में दो प्रतिक्रमण उचित

ठहराए है। अतः इस परंपरा की वर्तमान में उपेक्षा करने के लिए कहना दुःसाहस ही होगा, मगर समाजहित में ये भी करने का भाव है। दो बार प्रतिक्रमण करने का आदेश तो किसी आगम में नहीं है पर एक प्रसंग ज्ञाताधर्मकथांग के प्रथम श्रुतस्कंध पंचम अध्ययन 'शैलक' में आता है कि शैलक राजर्षि प्रमादी हो गए थे, उनके शिष्य पंथक उनकी अप्रमत्त भाव से सेवा भी करते थे और अपनी संयमाराधना भी। **तएणं से पंथए कत्तिय चाउम्मासियंसि कय-काउस्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं पडिक्कमिउं कामे सेलयं रायरिसिं खामणट्ठाए सीसं पाएसु संघट्टए।** अर्थात-पंथक मुनि ने कार्तिक पूर्णिमा के दिन कायोत्सर्ग करके दैवसिक प्रतिक्रमण किया फिर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की इच्छा से शैलक राजर्षि को खमाने हेतु पैरों को छुआ। इस पाठ के आधार पर वर्तमान माल में ये परंपरा चल पड़ी कि जैसे पंथक ने चातुर्मासी पर दो प्रतिक्रमण किए वैसे ही वर्तमान में भी सबको करने चाहिए। परंतु दृष्टांतों के आधार पर अपनी जीवन शैली को बचाना जैन पद्धति नहीं रही है। प्रत्येक प्रबुद्ध मुनिराज की मान्यता रही है है कि कथानुयोग आदेशात्मक नहीं होता। उसका तो सारांश ही ग्राह्य होता है, कथा का प्रत्येक अवयव नहीं अन्यथा कथाओं में ऐसे वाक्य भी आ जाते है जो सर्वथा अनुपादेय भी होते है। आगमों के अधिकांश मथानकों में भगवंतो के दर्शनार्थ जाने वाले श्रावक श्राविका नहा-धोकर, सज-धजकर फूलों की माला (सचित्त) पहन कर जाते है पर क्या वह प्रक्रिया आज लागू की जानी चाहिए। सुषमा दारिका की कहानी का एक मोड़ ऐसा है कि जिसे आज की सभ्य समाज के बीच सुनाया भी नहीं जा सकता फिर उसको अपवाद स्थिति में भी उपादेय कैसे किया जाए? भगवती सूत्र में वर्णन है कि स्कंधक परिव्राजक के स्वागत में स्वयं गौतम स्वामी आगे गए और उनका जी भर कर स्वागत किया। यदि कोई मुनिसंघ आज इसी प्रसंग को प्रमाण मानकर अन्य तीर्थिक अव्रती का स्वागत करने की समाचारी बना ले तो क्या उसे उचित मान लिया जाएगा। कई आगमिक कथाओं में वर्णन है कि महिलाएँ भगवान् के समवसरण

में खड़ी-2 ही उपासना करती थी क्या इसी आधार पर आज प्रत्येक धर्म सभा में बहनों के बैठने पर पाबंदी लगा दी जानी चाहिए। प्रत्येक मुनि का वर्णन करते हुए आगमों में उल्लेख है कि "संयमेव पंचमुट्ठि लोयं करेइ" स्वयं ही पंचमुष्टि लोच मुनि ने किया। क्या इस प्रसंग को लेकर आजकल अन्य मुनि द्वारा कराए गए लोच को आगम विरुद्ध घोषित कर दिया जाए। ऐसे अनेकानेक दृष्टांत और भी उद्धृत किए जा सकते है। इन कथानकों को आदेश न मानने के लिए हमारा मुनि वर्ग प्रारंभ के ही जागरुक रहा है मगर पंथक के दो प्रतिक्रमण के लिए कथानक ही सर्वे सर्वा बन गया। यह दोहरी नीति समग्र समस्याओं का मूल कारण है। जैन धर्म की मान्यता रही है कि मध्यम तीर्थंकरों के साधु-साध्वी समयबद्ध प्रतिक्रमण नहीं करते है और प्रथम अंतिम तीर्थंकरों के साधु-साध्वी समयबद्ध प्रतिक्रमण करते हैं।

सपडिक्कमणे धम्मे पुरिमस्स पच्छिमस्स थ जिणस्स।
मज्झिमगाणं जिणाणं कारण जाए पडिक्कमणं॥

दस कल्पों में प्रतिक्रमण प्रथम, अन्तिम शासनवर्तियों के लिए लागू होता है मध्यमवर्तियों के लिए नहीं। मध्यमवर्तियों की ये व्यवस्था है कि उनका जब जैसा मन करता है तब अपने दोषों की शुद्धि कर लेते हैं। वे प्रायः अत्यधिक जागरूक होते हैं अतः दोष सेवन के साथ ही साथ उस दोष से पीछे हट लेते है और यही उनका प्रतिक्रमण होता हैं उनका लक्ष्य दोष शुद्धि ही होता है, न कि पाठोच्चारण या विधि का निर्वाह। जबकि हमारे लिए पाठोच्चारण और विधि पालन तथा समय की प्रतिबद्धता आवश्यक है। पंथक मुनि को उस रोज प्रतिक्रमण करने का भाव बना तो कर लिया अन्यथा उनके लिस अनिवार्य नहीं था। जब उनका कल्प हमारे लिए विहित ही नहीं फिर उस शासन के मुनि की चर्या को आधार बनाकर हम क्यों नए पचड़े में पड़े। द्विप्रतिक्रमण के पक्षकार भी इस पाठ को लेकर चौमासी और संवत्सरी पर दो प्रतिक्रमण करते हैं, करवाते हैं पर पक्खी पर नहीं। क्यों? क्योंकि पक्खी के लिए कोई कहानी नहीं

मिलती। यदि कहानी इतनी प्रमाणिक हो गई है तो उसमें संवत्सरी का वर्णन भी नहीं है। उस दिन के लिए भी नई कहानी की जरूरत पड़ेगी फिर इस कहानी में कार्तिक चतुर्मासी के रोज ही दो प्रतिक्रमण किए है आषाढ़ी चौमासी तथा फाल्गुनी चौमासी के लिए उनके पास क्या प्रमाण है? मैं मानता हूँ कि मेरा ये तर्क केवल अनावश्यक खींच लगेगा मगर पूर्व पक्ष की अत्यधिक खींच ने ही इस मुकाम पर पहुँचने के लिए विवश किया है। मैं अपने मुख्य विषय पर आ रहा हूँ कि मुनियों की व्यवस्था को उनके ऊपर छोड़कर केवल श्रावकों के प्रतिक्रमण को एक सरीखा रहने दीजिए। यदि पंथक मुनि ने कार्तिक पूर्णमासी पर दो प्रतिक्रमण कर लिए तो उस घटना को लेकर श्रावकों को भी क्यों बाध्य किया जा रहा है कि ये भी साल में चार दिन दो बार प्रतिक्रमण करें। श्रावक के लिए प्रतिक्रमण बहुत बाद भी उपज है फिर वह नित्य कृत्य के रूप में न करके नैमित्तक कृत्य के रूप में ही कर सकता है। साधुओं की चर्या श्रावकों पर लागू करना अनुचित है फिर भिन्न शासन के साधु की चर्या का तो कोई मतलब ही नहीं। जब भगवान् महावीर स्वामी ने अपने मुनियों के लिए पूर्ववर्ती शासनों के आदेश सर्वथा मानने का प्रावधान नहीं किया, अपितु नए ढंग से उनकी जीवनचर्या निर्मित की तो श्रावकों के लिए पंथक मुनि का उदाहरण क्या अर्थ रखता है। प्रश्न हो सकता है कि केवल चौमासी और सांवत्सरिक पाठ बोलने से दिन के अतिचारों की शुद्धि कैसे होगी? वे दोष तो अप्रतिक्रांत ही रह जाएँगे, इसका समाधान भी प्रतिप्रश्न से ही दिया जा सकेगा। पक्खी प्रतिक्रमण में दैवसिक अतिचार कैसे प्रतिक्रांत हो जाते हैं? यदि पक्खी प्रतिक्रमण के पाठों से दैवासिक अतिचारों की शुद्धि संभव है तो चौमासी सांवत्सरिक प्रतिक्रमणों से भी मान्य होनी चाहिए। श्रावकों का जीवन बड़ी विचित्रताओं से भरा रहता है। अतः जरूरी नहीं है कि वह प्रतिदिन, प्रतिपक्खी प्रतिचौमासी, प्रतिसंवत्सरी प्रतिक्रमण करता ही है किसी ने एक चौमासी का प्रतिक्रमण नहीं किया तो क्या अगली चौमासी पर चौमासी के ही दो प्रतिक्रमण करने होंगे, और दो चौमासियाँ छूट गई तो

क्या तीसरी चौमासी पर देवसी के अलावा तीन और प्रतिक्रमण करने होगें। ऐसे ही चार, पाँच, दस, बीस प्रतिक्रमणों की नौबत आ सकती है। यदि भाव पूर्वक अपने अतीत का निरीक्षण करके हमने पश्चात्ताप कर लिया और अपनी मूल मर्यादाओं को स्वीकार कर लिया, गत भूलों का दंड प्रायश्चित्त लेकर भावी काल के लिए सावधान हो गए तो हो गया प्रतिक्रमण, अन्यथा कितनी ही बार प्रतिक्रमण की पाटियाँ दुहराते रहें, कोई कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है। हमारे पूर्वाचार्यों में किन्हीं-2 ने यदि दो प्रतिक्रमण को उचित समझा तो उनके उत्तराधिकारी सर्वाचार्यों ने एक प्रतिक्रमण की व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। जब ऐसी क्या एमरजैंसी आ गई जो पुनः दो प्रतिक्रमण चालू हो गए? तथा चार आवश्यक ही दोबारा क्यों पढ़े जाते है? सभी क्यों नहीं पढ़े जाते? पुरानी सड़कों पर पुराने पुल बने होते थे, आज सड़कें नई बनी है तो नए पुल भी बने है। पुराने अनुपयोगी होने से टूट रहे हैं या तोड़ दिए गए है। क्या आवश्यकता है अपनी गाड़ी को पुराने पुलों पर ही चलाने की। ठीक है, वे पुल भी ठीक थे, सड़कें भी मंजिल पर ले जाती थी, मगर उनकी उम्र बीत गई तो नए बना लिए है। हमारे पूर्वजों ने दो प्रतिक्रमणों की बजाय एक प्रतिक्रमण की परंपरा को अधिक युक्तियुक्त और सार्वजनीन समझा, अब इस परंपरा से अधिक छेड़छाड़ लाभदायक होने की बजाय हानिप्रद होगी और विघटन का एक बड़ा कारण होगी। कम से कम श्रावकों को तो इस प्रपंच से बचाओ इतना सा निवेदन है। ध्यान रहे, ये सब भाव श्रावकों की सार्वजनिक क्रियाओं के लिए प्रस्तुत किए जा रहे है। इनकी व्यक्तिगत व्यवस्थाओं के लिए नहीं तथा न ही साधु वर्ग के लिए।

तीसरा मुख्य विषय कायोत्सर्ग में लोगस्स की संख्या से है। देवसी प्रतिक्रमण में सर्वत्र एकरूपता है पर पक्खी, चौमासी और संवत्सरी को लोगस्स संख्या पर द्विरूपता है। बहुसंख्यक वर्ग क्रमशः 8-12 और 20 लोगस्स का पाठ करता है जबकि एक वर्ग 12-20 तथा 40 का करता है। द्वितीय वर्ग की धारणा के पीछे प्रवचन सारोद्धार का पाठ आधार

है तथा प्रथम वर्ग के लिए विजयोदया वृत्ति का पाठ। प्रवचन सारोद्धार वाले पक्ष का समर्थन मूर्तिपूजक समाज ने भी किया है अतः उनका बल कई गुणा हो गया है। परंतु प्रश्न तो श्रावकों की सामूहिक आराधना का है। जब अजमेर सम्मेलन में इस प्रश्न का समाधान हो ही गया था तो इसे पुनः कुरेदने का उद्देश्य ही क्या है? सर्वप्रथम ये देखें कि कार्यात्सर्ग एक विशिष्ट क्रिया है जिसके द्वारा साधक कुछ समय के लिए काय, शरीर की चेष्टाओं को बिल्कुल विसर्जित कर देता है। कायोत्सर्ग का कोई पाठ किसी भी युग में, किसी भी परंपरा में, किसी भी पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता। शरीर शिथिलीकरण, चेष्टा निरोध, मौन तथा मानसिक एकाग्रता ही कायोत्सर्ग है, न कि पाठ पढ़ना। **"ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि"** का आगार सूत्र कायोत्सर्ग की स्थिति का सही निरूपण करता है। परंतु जैसे-2 जैन साधना पद्धति से ध्यान योग का अभ्यास विलुप्त होता गया वैसे-2 पाँचवे आवश्यक का स्वरूप ही बदलने लगा। और शब्दों के विक्षेप से रहित कायोत्सर्ग में लंबे-2 पाठों का प्रवेश हो गया। परंतु पाठों के साथ-2 श्वासोच्छवास संतुलन तथा उसी संतुलन के पाठ की लयबद्धता कायोत्सर्ग में कुछ अरसे तक चली परन्तु अब तो वह लयबद्धता और श्वासोच्छवासों का संतुलन भी उपेक्षित, परित्यक्त है, केवल लोगस्स का मानसिक वाचन मात्र शेष है। इस पद्धति से 20-40 या इनसे न्यून और अधिक बार भी लोगस्स पढ़ लिया जाए तो क्या हासिल होना है। क्यों न एकरूपता बनाए रखकर विषमता से बचा जाए। स्थानकवासी समाज के लिए प्रवचन सारोद्धार इतना प्रमाणिक ग्रंथ नहीं है कि इसके संकेत को मान्य करना अनिवार्य हो।

इस पाठ के अलावा प्रवचन सारोद्धार की और कौन सी आज्ञा का निर्वाह किया जा रहा है उस ग्रंथ की दुहाई देने वालों द्वारा? इच्छाकारेणं, इच्छामि खमासमणो खामणाएँ और वंदनाएँ जितनी बार निर्दिष्ट की है क्या उनको अपनाया जा रहा है? यदि नहीं तो केवल कायोत्सर्ग पर ही इतना जोर क्यों? प्रवचन सारोद्धार में तो छह आवश्यकों का क्रमबद्ध

विवेचन नहीं है। चैत्यवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान, वहाँ का क्रम ये है। तदनुसार दैवसिक प्रतिक्रमण क्या होना चाहिए, उसकी झलकी उसी की गाथाओं द्वारा पेश की जा रही है

चिइवंदणमुस्सग्गो पुत्तिय पडिलेह वंदण लोए।
सुत्तं वंदणा खामण च वंदण चस्ति उस्सग्गो ॥ 75वीं गाथा॥

दंसणु नाणोसग्गो सुयदेवय खित्त देवमाणं च,
पुत्तिय वंदण थुइतिय सक्कत्थय थोत्त देवसियं ॥ 76वीं गाथा॥

इन गाथाओं के आधार पर दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि निम्न प्रकार से मान्य की गई है–

1) भूमि की प्रमार्जना करके इर्यावहिय करते हुए चैत्य वंदना करनी। 2) आचार्य आदि सब उपस्थिति पूज्य जनों को खमासमणों देनी 3) देवसिक अतिचारों का कायोत्सर्ग करना। (प्रवचन सारोद्धार के अर्थ कर्ता ने यहाँ बीच में लोगस्स पढ़ने के लिए भी कहा है।) 4) मुँहपत्ति की प्रतिलेखना करनी। 5) वंदना देनी। 6) आलोचना करनी। 7) प्रतिक्रमण सूत्र पढ़ना। 8) फिर वंदना देनी। 9) खामणा देनी, सबसे क्षमायाचना करनी। 10) वंदना देनी। 11) चरित्राचार का कायोत्सर्ग करना। 12) दर्शन शुद्धि को लक्ष्य रखकर कायोत्सर्ग करना। 13) ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करना। 14) श्रुतदेवी का कायोत्सर्ग करना 15) क्षेत्र देवता का कायोत्सर्ग करना (अर्थ कर्ता के अनुसार नवकार मंत्र पढ़कर स्तुति करनी, स्वयं बोलनी या औरों से सुननी) 16) मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करनी। 17) मंगलादि के लिए वंदना देनी। 18) इच्छामि अणुसट्ठिं कहकर-नीचे बैठकर ऊँचे स्वर में गुरु की एक स्तुति करनी फिर भगवान् महावीर की स्तुति करनी। 19) फिर शक्रस्तव पढ़ना। 20) कुछ स्तोत्र पढ़ने और इस प्रकार प्रतिक्रमण पूर्ण करना ये सब अनुष्ठान करने के बाद चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करने

का आदेश प्रवचन सार के लेखक करते है। जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण का विस्तृत अनुष्ठान वहाँ वर्णित है, उसी प्रकार का रात्रिक प्रतिक्रमण भी समझना चाहिए। यद्यपि कई अनुष्ठानों में, पाठो में काफी भिन्नता भी है। पर लेख के कलेवर की अनावश्यक वृद्धि से बचने के लिए उनका उल्लेख विस्तार से नहीं किया जा रहा है। पक्खी प्रतिक्रमण का भी वहाँ अच्छा विस्तार दिया है। चौमासी, संवत्सरी प्रतिक्रमण के संबंध में कुछ नहीं लिखा, संभवतः भिन्नता अतिप्रेत न हो।

हाँ कायोत्सर्ग तथा खमासमणों के संबंध में उनका मंतव्य ये है कि दैवसिय प्रतिक्रमण के बाद चार, रात्रि-प्रतिक्रमण के बाद दो, पक्खी के बाद 12, चौमासी के बाद 20 तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के बाद 40 कायोत्सर्ग करने तथा दैवसिय प्रतिक्रमण में खमासमणो तीन बार, चौमासी में सात बार तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में पाँच बार करने होते है। संबंधित गाथाएँ इस प्रकार है–

चत्तारि दो दुवालस, बीसं चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे या ॥83॥

देवसिय चाउम्मासिय संवच्छरिएसु पडिक्कमण मज्झे।
मुणिणो खामिज्जंति तिण्णि तहा सत्त पंच कया ॥86॥

यदि प्रवचन सारोद्धार को मान्य करते हुए कायोत्सर्ग में लोगस्स की संख्याएँ अपनाई जा रही हैं तो इच्छामि खमासमणों की संख्याएँ भी अपनाई जानी चाहिए तथा जो-2 अन्य विधि विधान वहाँ प्रतिपादित किए है, उन्हें भी हू-ब-हू स्वीकार करना चाहिए। मूर्तिपूजक समाज के प्रतिक्रमणों में भी संभवतः प्रवचन सारोद्धार का पूर्ण अनुकरण नहीं है जो कि स्थानकवासियों से अधिक अधिमान उस ग्रंथ को देते है, जैसे कि वर्तमान में उपलब्ध कुछ प्रतिक्रमणों के अवलोकन से स्पष्ट हो रहा है।

उनमें वर्णित कुछ विधियाँ निम्नोक्त है–

केवल सामायिक में ही चार तरह की खामणाएँ चार बार, 8 इच्छाकार तथा एक बार इच्छाकारेण है। रात्रि प्रतिक्रमण में 14 बार खामणा है। 6 इच्छाकार है, 8 बार इच्छामि खमासमणो है, लोगस्स का पाठ 5 बार, तस्स उत्तरी का 11 बार, नमोत्थुणं 6 बार, 10-12 बार नवकार मंत्र का कायोत्सर्ग भी है। लगभग यही स्थिति दैवसिक प्रतिक्रमण में निर्दिष्ट की है। पक्खी प्रतिक्रमण की पाठावली और अन्य विधि देवसी से दुगुनी बड़ी है चौमासी और संवत्सरी में शाब्दिक परिवर्तन है। कलेवर लगभग पाक्षिक जितना ही बनता है। जब स्थानकवासी समाज ने अन्य सब कुछ को उपेक्षित कर दिया है तो कायोत्सर्ग संख्या के लिए उस ग्रंथ को प्रमाणभूत बनाने की नीति का लक्ष्य स्पष्ट नहीं हो रहा। और उस संख्या को मान्य ही करना है तो तत्र वर्णित एक लोगस्स की पूर्ति 25 श्वासों में करने को भी अपनाना होगा। एक बात को पकड़ना शेष को ठुकराना ये न्यायिक नहीं है।

जब एक बार समग्र स्थानकवासी जैन समाज ने लोगस्स संख्या निश्चित कर ली तो उस पर कायम रहना हितकर है। सुना है कि गुजरात में तो पंचम आवश्यक में लोगस्स पढ़ते नहीं, उनकी क्या प्रक्रिया है ये तो ज्ञात नहीं पर इससे ये तो ध्वनित होता है कि लोगस्स या उसकी संख्या कोई आगमिक आदेश नहीं है। फिर भी किसी को आग्रह हो तो उनसे निवेदन है कि साधु साध्वी भले संख्या विशेष से प्रतिबद्ध रहे पर श्रावक समाज को प्रतिबद्ध न बनाए। श्रावक सभी संप्रदायों के एकत्र होकर प्रतिक्रमण कर लेते हैं और पर्व तिथियों पर ही विशेष रूपसे एकत्र होते हैं उस समय पारस्परिक स्नेह वृद्धि की बजाय कटुता कलह का वातावरण बनने लगता है। प्रतिक्रमण का मूल भाव ओझल हो जाता है और अपनी-2 व्यवस्थाएँ हावी हो जाती है तथा फिर टकराव बनता है।

पर्व पर्व न रहकर गर्व पोषण और गर्व मर्दन के अखाड़े बन जाते है। जैनों का श्रावक समाज अभी बड़ा भावुक और भोला है वहां अंधानुकरण जल्दी करता है और जल्द ही सही गलत के फैसले देने लगता है। वह अभी भी आध्यात्मिक कम, सामाजिक ज्यादा है और सामाजिक व्यक्तियों के लिए वाह्य अनुष्ठानों की विविधता संदेह या संघर्ष का कारण बन जाती है। मैं वैयक्तिक स्वतंत्रता का हिमायती होते हुए भी सामाजिक मसलों में समरूपता का पक्षधर हूँ। अतः चाहता हूँ कि आज के नीति निर्धारक ऐसी कोई बात न उछालें जिससे पारस्परिक प्रेम संबंधों का ताना बाना छिन्न भिन्न होने का खतरा हो। श्रावक अभी भी एक दूसरे से जुड़े हुए है, उन्हें कटने न दें। कुछ राजस्थानी क्षेत्रों को छोड़कर समग्र भारत में श्रावकों में मेल मिलाप है एवं धर्म क्रियाएँ संयुक्त होती है। तथा उत्तर भारत में तो प्रारंभ से ही एकजुटता रही है। उस एकजुटता में शिगाफ न आए ऐसी सावधानी मुनि वर्ग को भी रखनी है तथा श्रावकों को भी विभाजक वृत्तियों से, प्रवृत्तियों से बचकर रहना है। ऐसा न हो कि धर्माराधना की छिटपुट बातों को लेकर एक दूसरे को छोटा बड़ा नापने लगें और अपनी अलग-2 डपली बजाने लगें। यदि सचमुच ही धर्म क्रियाओं को आनंद लेना है तो उन्हें भाव पूर्वक करें। तन्मयता तथा गंभीरता से किया गया लघु अनुष्ठान उतना फल प्रदान कर सकता है जो बिना मन से किए दीर्घ अनुष्ठान से प्राप्त नहीं होता। प्रतिक्रमण धर्मानुष्ठानों का सर्वाधिक मूल्यवान् विधान है पर आज सबसे अधिक नीरस और उबाऊ भी यही हो रहा है। एक तो पुनः पुनः करने से उसमें मानसिक एकाग्रता नहीं बनती, दूसरे पाठों का बोझ इतना बढ़ गया है कि उन पर विचार विमर्श करने के लिए समय ही शेष नहीं रहता। प्रतिक्रमण के वर्तमान ढाँचे को भी संशोधन की तो आवश्यकता है पर वह तभी होगा जब समग्र समाज की सहमति होगी। उससे पूर्व किया गया प्रत्येक प्रयास चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह व्यक्तिगत स्तर पर उपयोगी होते हुए भी सामाजिक

स्तर पर विभाजनकारी ही साबित होगा। आज कई स्थानों पर भाव प्रतिक्रमण, हिन्दी प्रतिक्रमण, काव्यबद्ध प्रतिक्रमण, विशुद्ध प्राकृत भाषा का प्रतिक्रमण आदि का प्रसारण हुआ है पर उन्हें तब तक उपादेय नहीं माना जाएगा, जब तक सार्वभौमिक स्वीकृति नहीं मिलेगी।

इस सुदीर्घ चर्चा को पढ़ सुनकर कोई ये कल्पना न करे कि किसी विशेष संघ को Target बना कर ये चर्चा की गई है। सब संघों के प्रति अपने मन में पूर्ण सद्भाव है, सबका आदर और उत्कर्ष बढ़े, ऐसी हार्दिक भावना है। परंतु वातावरण का कुछ बोझ हल्का हो और आवश्यक सूत्र के नाम पर अनावश्यक वितण्डावाद न फैले, इसलिए चंद पहलुओं को जनता के सामने प्रस्तुत किया है। किसी को लज्जित करने का स्वल्प सा भी भाव मन में आया हो उसके लिए हार्दिक तस्स मिच्छामि दुक्कडं। अपना आदर्श है। **"जो परिभवति परं जणं संसारे परियत्तई महं, अदुइं खिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी न मज्जति।"**

जो औरों का अपमान तिरस्कार करता है वह संसार में बहुत अधिक भटकता है। निंदा करना पाप रूप है ऐसा जानकर मुनि अहं न करे। क्योंकि अहंकारी आदमी अन्य की निंदा अधिक करता है।

श्रावक केश लोच - आगमेतर सोच

धर्म का उद्‌गम विवादों के शमनार्थ हुआ। फिर धीरे-2 धर्म विवादास्पद् हो चला। जैन धर्म ने अनेकान्तवाद के माध्यम से धार्मिक विवादों का निपटारा करना चाहा लेकिन जैन धर्म में विविध विवाद प्रकट हो गए।

माना ये जाता है कि विवाद का मुद्दा जर जोरू ज़मीन होते हैं, परन्तु धार्मिक विवाद इनसे उत्पन्न होने के बजाय मान्यताओं की भूमिका से उपजाते है। मैं श्रेष्ठ, मैं सही, मैं प्राचीन मैं मौलिक ये अहं सत्यता, अहं मन्यता धर्मक्रियाओं में विवाद की जननी रही है। भोग से संघर्ष की उत्पत्ति सहज समझ में आती है पर त्याग उससे भी ज्यादा विवादों को जन्म देता है।

इस बात पर भी गौर करना जरूरी है- गृहस्थ को अधिक कमाई का गर्व हो सकता है तो सन्यासी को अधिक त्याग तपस्या का गर्व हो सकता है। भगवान् महावीर ने कर्मवन्धन के कारणों को कर्म निर्जरा का तो कर्म निर्जरा के कारणों को कर्म-बन्धन का कारण बताकर इस गहन सत्य को सार्वजनिक किया है। उत्कृष्ट त्याग के लिए विख्यात जैन समाज में समय-2 पर विवादास्पद मुद्दे उभरते रहे हैं।

कुछ वर्षों से जैन समाज में "श्रावकों का लोच" ऐसा ही विषय उभर कर आया है, जो विचारणा की मांग कर रहा है।

केशलोच कायक्लेश तप के अन्तर्गत आता है। तप के लिए भगवान् महावीर ने बड़ी सावधानियां दी हैं। पहली सावधानी तो ये कि जो साधक सम्यग् ज्ञान दर्शन का धारक होकर चारित्र का आराधक बन जाए, वही तप के क्षेत्र में प्रवेश करे। जिसने प्रथम तीन मोक्ष मार्गों का अबलम्वन नहीं लिया, वह कठोर से कठोर तपस्या भी कर ले तो

अज्ञान कष्ट बाल तपस्या का अधिकारी ही कहलाएगा, सकाम निर्जरा का नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र 28वें अध्ययन में-

"नाणं च दंसणं चेव चारित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥"

कहकर मोक्षमार्ग प्रतिपादन में तप का चौथा स्थान रखा है। जो आत्मा पहली तीन शर्तों को पूरा कर ले उसी के पश्चात् तप की ओर कदम बढाए। ऐसा भाव इस गाथा से निकलता है। तत्त्वार्थ सूत्र में तो मोक्षमार्ग के तीन ही स्तम्भ स्थापित किए हैं- "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" तप की अविवक्षा स्पष्ट रूप से तप के विषय में मूल जैन धारणा को अभिव्यक्त कर रही है।

ज्ञान दर्शन चारित्र की पुष्टि, शुद्धि एवं परिपक्वता के लिए तप का आसेवन होता है। इन तीनों में भी चारित्र की दृढ़ता बढाने के लिए तप किया जाता है। यदि किसी आत्मा ने चारित्र ग्रहण ही नहीं किया तो तप किस उद्देश्य की पूर्ति करेगा? पतीली को अग्नि पर रखने का लाभ तभी है यदि पतीली में पानी हो, पानी में दाल हो, ताकि अग्नि की उष्णता पतीली को गर्म करके पानी को उबाल दे और उबला हुआ पानी दाल की कठोरता को मुलायम कर दे। बिना पानी और दाल के पतीली को आग पर रखना जैसे अज्ञता, अनर्थदण्ड माना जाता है ऐसे ही चारित्रपर्यायों के अभाव में तप की अग्नि पर शरीर को तपाना भी एक तरह से बालिशता और मूढ़ता में परिगणित हो सकता है।

कथा साहित्य में प्रभु पार्श्वनाथ ने कमठ की बालतपस्या का इसीलिए विरोध किया था। भगवती सूत्र में गोशालक के प्रसंग में, वेश्यायन तपस्वी को 'बालतपस्वी' का विशेषण इसी कारण दिया, क्योंकि तप की पूर्वभूमिका ज्ञान दर्शन चारित्र का उसके पास अभाव था।

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्ययन तपोमार्ग की प्रारम्भिक 6 गाथाएं आंख खोलने वाली हैं। तप का विवेचन, पालन, अभ्यास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पहले इनका मनन करना चाहिए फिर अगली गाथाओं की ओर दृष्टिपात करना चाहिए।

सर्वप्रथम कहा है कि साधक को पहले आस्रव निरोध करना है फिर तपस्या करनी हैं। आस्रव द्वार बन्द किए बिना तपस्या का वही परिणाम होता है जो पानी के स्रोत रोके बिना तलाब सुखाने का। एक तरफ कड़ी मेहनत से पानी उलीचा जा रहा है, सुखाया जा रहा है, दूसरी ओर से चुपचाप पानी भरता जा रहा है। पुराने युग से धार्मिक व्यक्ति ऐसी भूलें करते आ रहे थे, अतः भ. महावीर ने चेताया कि तप की ओर कदम बढाने से पूर्व आवश्यकतम शर्तें पूरी करनी चाहिएं। आस्रव रहित आत्मा तप करे तो लाभदायक अन्यथा सश्रम कारावास। आस्रव रहित कैसे हुआ जाता है इसका स्पष्टीकरणः- प्राणिवध, असत्यभाषण, अदत्तादान, मैथुन तथा परिग्रह से रहित होकर जो जीव रात्रिभोजन का त्याग कर देता है वह आस्रवों को रोकता है। तथा 5 समिति 3 गुप्ति को पालने वाला, कषायों को वशीभूत करने वाला, इन्द्रियों को जीतने वाला, तीन प्रकार के गौरवों से मुक्त तथा तीन शल्यों को त्यागने वाला साधक आस्रव रहित हो पाता है। इस सहज संयम की दृढ़ नींव को स्थापित करने के बाद तपस्या से प्राचीन कर्मों का सफाया होता है। जो संयम पाप कर्मों के आगमन को रोकता है वह ही तप द्वारा कर्म निर्जरा करता है। ये जिनशासन का सर्वोच्च उद्घोष है।

इस विशद सिद्धान्त की उपेक्षा का परिणाम ये निकलता है कि अयोग्य आत्माएं भी तप के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती हैं। वे स्वयं मुग्ध होकर कल्पना करती रहती हैं कि हमारे कर्म नष्ट होते जा रहे हैं। तथा उनके तप को देखकर अन्य व्यक्ति भी भाव-विभोर होकर उनकी स्तुति प्रशंसा करके उन्हें तप के लिए उत्साहित करते रहते हैं। चार तीर्थों में श्रावक और श्राविका तप किस सीमा तक करें- यह एक उलझा

हुआ प्रश्न है। पर आगमों का संतुलित चिन्तन किया जाए तो उसका भी समाधान मिल सकता है। I सर्वप्रथम; आगम में तपस्या करने का आदेश न साधु साध्वी के लिए है न श्रावक श्राविका के लिए। हाँ, तपस्या करने वाले साधु साध्वियों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में है, तथा श्रावक श्राविकाओं की जीवन चर्या के वर्णन में तपस्या के कुछ संकेत मिलते हैं।

II संयम के अनुपात में ही तप का अनुष्ठान आगमकारों को अभीष्ट रहा है। उदाहरणार्थः- साधु साध्वी उत्कृष्ट तपस्या 6 महीने की करते हैं। तो श्रावक तेला तप। अर्थात् साधु की तुलना में गृहस्थ का तप 60वां अंश है। और तेला तप भी उस गृहस्थ के लिए है जो 12 व्रती हो। तथा तेला भी उस स्थिति में जब वह असंयम की प्रवृत्तियों से मुक्त हो अर्थात् पौषध की अवस्था में हो।

III जितने अंश में साधु का संयम होता है, उतने अंश में वह तपस्या करता है तथा जितने अंश में गृहस्थ का संयम (संयमासंयम) होता है उसके अनुपात में उसका तप। उससे अधिक नहीं।

IV रात्रि भोजन त्याग के सम्बन्ध में श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की धारणा है कि यह श्रावक के व्रतों का अंग न होकर उसके लिए तपस्या है। अर्थात् श्रावक के स्तर पर रात्रिभोजन त्याग भी पर्याप्त तपस्या है। क्योंकि रात्रि में विचरण, यात्रा, आवागमन उसके लिए वर्जित नहीं हैं। अंधकार में भोजन करने से जितनी हिंसा संभव है उससे कई गुणा आवागमन में संभावित है। अतः रात्रिभोजन छोड़ना उसके लिए एक तपस्या है, व्रतों का अंग नहीं।

तपस्या के सम्बन्ध में इतनी स्पष्टता आगमों में उपलब्ध होने के बावजूद जैन इतिहास में ऐसा समय आया कि रात्रि भोजन त्याग प्रत्येक जैन के लिए अनिवार्य हो गया। इस छोटे से नियम ने अन्य सभी श्रावकोचित व्रतों से ऊपर अपना स्थान बना लिया। किसी व्यक्ति का समग्र जीवन अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, सदाचार आदि से भरपूर

होने पर भी यदि वह रात्रिभोजन करता है तो उसे जैन मानना अपराध हो गया तथा सभी उच्च गुणों से वर्जित, झूठ बेईमानी से ओत-प्रोत व्यक्ति भी रात्रि भोजन का त्यागी है तो वह विशुद्ध जैन श्रावक के रूप में सम्मानित होने लगा। धर्म का सस्तापन इसी को कहा जाएगा जब अल्प मूल्य की चीजें सिर पर चढ़ जाएं और बहुमूल्य पाताल में चली जाएं। समुद्र के सम्बन्ध में एक अन्योक्ति है कि वह तिनकों और झागों को सबसे ऊपर रखता है तथा मोतियों को नीचे फैंक देता है। कुछ ऐसा ही ह्रास जैनत्व का प्रारम्भ हुआ और क्रमशः बढ़ता ही गया। जैन साधु साध्वियों ने इस परम्परा को वेग देते हुए न जाने क्यों, कहीं-2 से उठाकर सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिए कि "रात्रि में भोजन करना मांस खाना है, तथा पानी पीना रक्त पीना है।" ये उद्घोषणाएं आज भी थमी नहीं हैं। आगमोक्त न होते हुए भी श्रावक के लिए रात्रि भोजन त्याग एक पहचान बन गई। लिखने को अभिप्राय ये नहीं है कि गृहस्थ रात्रिभोजन करे या रात्रिभोजन छोड़ने में कोई दोष है। अभिप्राय ये है कि इस सम्बन्ध में Extereme (अति) भाषा से बचा जाए। तथा इस नियम का जितना महत्त्व है, बस उतना ही दिया जाए, अधिक नहीं।

साधुवर्ग की प्रेरणा तथा श्रावकों के उत्साह ने धीरे-2 तप को अधिक अहमियत दे दी। गृहस्थ वर्ग तेले तप से बढकर अठाई, मासखमण तक की तपस्याएं करने लगे। चम्पाबाई ने 6 महीने तक की तपस्या की। उसकी तपस्या के जलूस के दौरान बादशाह अकबर के प्रभावित होने का आख्यान भी जैन कथानकों में मिलता है। पुनः प्रश्न उभरता है कि 6 माह की तपस्या संयम के विना कितनी कर्म निर्जराकारक बनती है? तथा कितनी आगम सम्मत है? लम्बी-2 तपस्याएं करने और करवाने का यह सिलसिला आजतक निर्वाध चला जा रहा है। श्वेताम्बर परम्परा में अधिक दिगम्बर परम्परा में कम। वर्षीतप, बेले-2 की सालों-2 तपस्याएं भी श्रावक जीवन का अंग बन गई।

समग्र जीवन शैली से इन सभी तपस्याओं का तालमेल छूट गया। एक अनुपात और सौन्दर्य भंग होने लगा। 'समचतुरस्र संस्थान की बजाय गृहस्थों का जीवन वामन, कुब्जक, हुण्ड बनने लगा। शरीर का एक अंग खूबसूरत हो और शेष सभी ऊबड़ खाबड़ हों तो एक अंग सौन्दर्यवर्धक नहीं कहला सकता। अंगों का Proportion में विकास हो, तभी सुन्दरता बनेगी। जैन श्रावक शैली ने अपना सौन्दर्य खोना शुरू किया तो खोता ही चला गया। फिर तो सचित्त जल, सचित्त वनस्पति के पीने खाने का प्रत्याख्यान श्रावकों ने करना प्रारम्भ कर दिया तथा साधुओं ने करवाना। अपने भावों को स्पष्ट करते हुए दोहरा देना जरूरी है कि ये त्याग बुरे नहीं है, इनका निर्वाह करने वाले महान होंगे, पर इनका समग्र जीवन से कितना सामञ्जस्य है तथा इनकी अध्यात्म मार्ग पर कितनी मूल्यवत्ता है तथा क्या साधु जीवन की नियमावली श्रावकों के लिए अनुमत है?

एक व्यक्ति दिन में पीने में 4-5 किलो पानी तो अचित्त पी लेता है पर स्नान में, वस्त्र धोने धुलवाने में, मकान, वाहनों की सफाई में, खेत की सिंचाई में Toilet नाली के धोने में जो सचित्त जल प्रयुक्त होता है, उस हिंसा से कैसे बच सकता है? यही बात फल फ्रूट के सम्बन्ध में है। सचित्त जल या सचित्त वनस्पति को अचित्त बनाने में क्या हिंसा रुक गई? क्या अन्य कायों के जीवों की हिंसा और नहीं बढ़ गई? समझना ये है कि ये नियम श्रावक के व्रतों की सीमा में हैं ही नहीं, यदि कोई एक ढंग से नियम पालन करेगा तो प्रकारान्तर से उनका भंग भी होगा। जिस उद्देश्य से ये नियम गृहीत हुए हैं वह उद्देश्य तो कभी पूरा होगा ही नहीं।

श्रावक के सभी व्रत नियम स्थूल स्तर के हैं जबकि ये सभी नियम प्रत्याख्यान सूक्ष्मता की सीमा में हैं। चलो, इन सब निमयों से कर्म निर्जरा होती है ये मानकर इनको प्रोत्साहित कर दें लेकिन कर्मबन्ध और निर्जरा की प्रक्रिया इतनी गहरी और सूक्ष्म है कि इधर स्वल्प प्रत्याख्यानों

से अल्प कर्म का बंध रुका उधर स्वल्प से कषायोदय से उससे अधिक बंध हो गया। समय-2 पर क्रोध, अहम् छल और इच्छाओं, अपेक्षाओं को झंझावात मानव जीवन में उठता रहता है। जो त्याग प्रत्याख्यान जन्य लाभ को क्षणभर में ध्वस्त कर देता है। इतना अधिक जोर लगाकर भी आत्मा का स्वरूप नहीं निखरा तो इन त्याग प्रत्याख्यानों पर पुनर्विचार नहीं करना चाहिए क्या?

पूर्वोक्त साधूचित मर्यादाओं का श्रावक जीवन में प्रवेश लम्बे अर्से से होता रहा है, अतः उन पर अधिक टिप्पणी करना शायद उचित न भी हो पर एक प्रवृत्ति जो चन्द वर्षों से जैन समाज में प्रारम्भ की जा रही है उस पर तो प्रबुद्ध एवं जागृत वर्ग को ध्यान देना ही चाहिए। कुछ साधुओं की प्रेरणा बनने लगी है कि श्रावकों को लोच करवाना चाहिए और प्रेरणा का स्टाईल, श्रद्धालुओं की भावुकता का परिणाम है कि श्रावक भी पर्याप्त संख्या में लोच करवाने लगे हैं। चातुर्मास की उपलब्धियों में श्रावकों के लोचों की संख्या भी एक महत्त्वपूर्ण इकाई बन गई है। जैसे-अठाई मासखमण, दर्शनार्थियों की भीड़, सम्वत्सरी के पौषध, दयाएं आदि परिगणनीय उपलब्धियां होती थी वैसे ही अब लोच सर्वोच्च उपलब्धि बनता जा रहा है। चारमाह के दौरान अहं भाव का स्तर कितना कम हुआ, असत्य भाषण कितना घटाया, बेईमानी प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या मनमुटाव, कलह, द्वेष, द्वन्द्व कितनी मात्रा में न्यून हुए इन सबकी ओर न मुनिवर्ग का ध्यान है, न ही श्रावकों का। मानों सारा जैनत्व और आध्यात्मिक विकास वाह्य तप द्वारा ही संपन्न होता हो।

ये भी एक विडम्बना है कि जैन धर्म में जितनी भावना प्रधानता थी, उसका संपूर्ण स्थान द्रव्य आराधनाओं ने ले लिया है। लोच की शुरुआत भी उस एकांगी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप ही हुई है। अब तो प्रतीत हो रहा है कि जैन श्रावकों में केवल एक आखरी कठोर साधना का प्रवेश और बाकी है, वह प्रविष्ट हुआ और श्रावक वर्ग "उत्कृष्ट निर्जरा" का भागीदार बना। नग्नत्व का अंतिम बैरियर कब टूटेगा या

तोड़ने का अभियान चलाया जाएगा? उत्तर चाहिए- निर्जरा के रहस्य वेदियों से।

कायक्लेश तप के अन्तर्गत 'लोच' आता है। जो केवल जैन मुनियों की उत्कृष्ट परीक्षा के रूप में भगवन्तों ने आवश्यक रूप से विहित किया था। भारत में कष्ट सहिष्णुता और कष्ट निमंत्रण के बीच का अन्तर बहुत कम धर्मप्रवर्तकों ने समझा था। दोनों को एक मानकर अनेक धर्म सम्प्रदायों में कष्ट निमन्त्रण की परम्पराएं प्रारम्भ हो गई। कहीं कांटों पर चलना साधना का अंग हो गया, कहीं कान फाड़ना संन्यास की शर्त बन गई, कहीं बर्फ के नीचे पसीना लाना आवश्यक हो गया। कहीं-2 भस्मालेपन से आगे विष्टालेपन और विष्टाभक्षण भी योगियों की परीक्षा में शुमार कर दिया। इन सब अतिवादी कठोरताओं के बीच बड़ा शालीन सा मार्ग प्रभु महावीर ने दिया कि जैन मुनि अपने बालों का लोच कर ले या करवा ले। ये उसकी दैहिक तपस्या की अंतिम परीक्षा होगी। इससे अधिक शरीर कष्ट जैन मुनि के लिए वर्जित कर दिया। कोई कष्ट स्वयं आए, उसे सहना अच्छा है पर स्वयं कष्टों की ओर बढना ये जैन धर्म में अधिक मान्य नहीं है। जिनकल्प के अन्तर्गत मुनि का जीवन काफी कठोरताओं का अभ्यासी हो जाता है पर उसमें भी कष्टों को स्वतः ओढने का प्रावधान नहीं है। आने वाले कष्टों से बचकर टलने का तो निषेध है, पर कष्ट बुलाने का प्रयास नहीं है। जैसे कि रास्ते में कांटे हों तो बचकर टलना नहीं पर जिस रास्ते में कांटे न हों उस पर पहले कांटे डालना, फिर चलना ये भी विधान नहीं है। सामने से हिंसक पशु आए तो डरकर इधर उधर नहीं होना, ये ठीक, पर जहां हिंसक पशु रहते हों वहां जान बूझ कर जाना, ये गल्त है। ये सूक्ष्म विवेक जैन शासन में रहा था और जैसे-2 साधकों की प्रज्ञा की लौ मन्द पड़ती दिखी, विवेक स्तर भावुकता और जड़ता की ओर उन्मुख हुआ, वैसे-2 आगमकारों ने 'जिनकल्प' पर पाबन्दी लगा दी क्योंकि स्वतः आने वाले तथा बुलाए जाने वाले कष्टों के बीच की सूक्ष्म भेद रेखा धूमिलतर होने लगी थी। स्थविर कल्प में भी कुछ व्यवस्थाएं

निर्धारित कर दी गई ताकि अनावश्यक दुःसाहस की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति रुके। स्थविर कल्पी मुनियों को अनार्य देश में भ्रमण का निषेध हो गया ताकि वेवजह तकलीफों से वचाव हो सके। साध्वियों के लिए और काफी सावधानियां दी गई। उन्हें सुरक्षित स्थानों पर दो दो महीने रहने का संकेत किया गया। वस्तुतः जैन धर्म जितनी कठोरचर्या के लिए विख्यात है, उससे ज्यादा विवेक के लिए है। विवेक का अर्थ है कि कोई चर्या किसी काल व्यक्ति, वर्ग के लिए उपयोगी हो तो उसका संपादन किया जाए और कालान्तर, मानवान्तर या वर्गान्तर के लिए वह उपयोगी न हो तो उसका परिहार किया जाए। मनोविज्ञान ने इस विवेक को स्वीकार किया है। प्रतिकूल परिस्थितियों में धैर्य रखना वीरता है। गर्मी सर्दी, प्रहार आक्रमण का सामना करना सहिष्णुता है पर स्वयं कष्टों की तलाश करना, अपने शरीर पर चोट पहुंचाना, उसमें आनन्द लेना मानसिक रुग्णता है। मनोविज्ञान के अनुसार आत्महत्या की ओर अग्रसर व्यक्ति जैसे भीषण रोग का शिकार है उसी प्रकार आत्मपीड़ा की ओर बढने वाला भी कुछ-2 रोगी है। परकीयवध और परकीय पीड़ा की तरह स्ववध और स्वपीड़ा वर्जनीय हैं, उनके अनुसार।

जैन विचारधारा उनसे शत प्रतिशत तो सहमत नहीं है क्योंकि जैन धर्म में जैन मुनियों के कुछ नियम उनके द्वारा स्वीकरणीय नहीं हो सकते। पर उनकी कुछ प्रतिपत्तियों के साथ जैन धर्म भी अपनी स्वीकृति रखता है। शरीर का आत्यन्तिक पोषण या आत्यन्तिक शोषण जिन शासन के विवेक धर्म में अनुमत नहीं रहा। 'सरीर माहु नावित्ति' शरीर एक नौका है। नौका का उपयोग तो करना है पर उसको सीमातीत लाड़ करते हुए पानी से बचाना नहीं है, न ही उसे तोड़कर ही दम लेना है। शरीर का उपयोग साधक अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार करते हैं साधु अपने ढंग से तथा श्रावक अपने ढंग से। केश लोच को भी जैन शासन की इस विवेक प्रज्ञा के आलोक में आचार्यों ने समझा और अपनाया है। भ. महावीर के चारों सम्प्रदायों में साधु साध्वी केश लोच की परम्परा को अभी तक सुरक्षित रूप से अपनाते आए हैं, चाहे

सुविधावाद और आधुनिकता के कितने ही प्रतीक प्रविष्ट हो गए हों, कुछ प्राचीन परम्पराएं लुप्त हो गई हों पर लोच अभी तक शेष है। साथ ही, हजारों सालों से श्रावक श्राविकाओं में लोच का प्रचलन नहीं हुआ। क्योंकि लोच के लिए जो-2 पूर्व नियम पालनीय होते हैं, जो कि शास्त्रों में अभी तक उपलब्ध हैं, वे जब तक पूर्ण नहीं हो जाएं तब तक लोच की अनुमति नहीं है। किसी अयोग्य व्यक्ति के साथ जुड़कर लोच शोचनीय बन सकता है। साधु साध्वी के लिए लोच अवश्य करणीय है, पर श्रावक के लिए 'श्रमणभूत प्रतिमा' ग्यारहवीं प्रतिमा के पालन के समय ही अनुमत है, उससे पूर्व नहीं। उस समय भी वैकल्पिक रूप से ही प्रावधान है, अनिवार्य विधान नहीं। ग्यारहवीं प्रतिमा श्रावक साधना का अंतिम पड़ाव है। जो श्रावक पहले 10 प्रतिमाओं का सम्यक् पालन कर चुका है, वही ग्यारहवीं प्रतिमा का अधिकारी है। पूर्ववर्ती दस प्रतिमाओं को बिना निभाए ग्यारहवीं प्रतिमा के निमयों का पालन निषिद्ध है। तथा प्रतिमाओं का प्रारम्भ करने से पहले बारह व्रतों का दीर्घावधि तक निष्ठापूर्वक निर्वाह करना भी आवश्यक है। जिस व्यक्ति ने वारह व्रत अंगीकार नहीं किए, उनका लम्बे समय तक पालन नहीं किया, वह प्रतिमाओं की ओर बढने के लिए अनधिकृत है। चाहे प्रतिमाओं की कुछ बातें उसे लुभाती हों, वह उन्हें निभा भी सकता हो, पर उन्हें अपनाने का प्रयास तभी मान्य होगा जब वह पूर्ववर्ती शर्तों को पूरा कर चुका हो अन्यथा अनधिकार चेष्टा कहलाएगी। प्रतिमाओं की आराधना से पूर्व किस-2 शर्त को निभाना चाहिए इसका सजीव उदाहरण उपासक दशांग सूत्र में आनन्द श्रावक के जीवन से प्राप्त होता है। तथाहिः- 'जब आनन्द श्रावक 14 वर्षों तक अपने व्रतों को निभा चुका तो एक बार धर्मजागरण के दौरान एक विचार कौंधा कि वाणिज्य ग्राम के सामाजिक प्रपंचों एवं पारिवारिक झंझटों के कारण अधिक धर्माराधना नहीं कर पाता। अब मैं अपने बड़े पुत्र को दायित्व सौंपकर पौषधशाला में रहूं और धर्माराधना में जीवन गुजारुं।" इस विचार को उसने शीघ्र ही मूर्त रूप दिया। पौषधशाला में आकर उसने पहली उपासक प्रतिमा

का निर्वहण किया। पहली के बाद दूसरी तीसरी और क्रमशः ग्यारहवीं प्रतिमा तक उसने अपने चरण बढाए। पहली तीन प्रतिमाएं तो पूर्व गृहीत सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा शिक्षाव्रतों को नए सिरे से, शुद्धि और दृढ़ता पूर्वक अपनाना है। यद्यपि पहली प्रतिमा का कालमान एक महीना, दूसरी का दो महीने और तीसरी प्रतिमा का तीन महीने माना है, पर यह परम्परा प्राप्त धारणा है। मूल में आगमकारों ने इस तीन का समय निर्धारित नहीं किया। दशाश्रुत स्कन्ध की छठी दशा के अध्ययन से ये बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। जल्दबाजी में कोई साधक सम्यक्त्व, अणुव्रत, शिक्षाव्रतादि की उपेक्षा करके अगले कठोर नियमों के लिए तत्पर न हो जाए, इसलिए इन तीनों की परिपक्वता आवश्यक मानी गई है। अगली प्रतिमाओं में एक-2 महीने की कालावधि भी बढ़ती जाती है, साधना के नियम भी सख्त होते जाते हैं। चार माह तक आनन्द ने अष्टमी पक्खी आदि पर्व तिथियों पर पौषध की विशिष्ट आराधना की। फिर पांच महीने तक पूरी-2 रात खड़े होकर कार्योत्सर्ग किया, उस दौरान जिनेन्द्र भगवन्तों का विशेष ध्यान किया। जिन दिनों कार्योत्सर्ग नहीं किया जाता था उन दिनों स्नान और रात्रिभोजन का त्याग तो करता ही था। छठी प्रतिमा में ब्रह्मचर्य की विशिष्ट साधना छह महीने तक की। शरीर का शृंगार, एकान्त में वार्तालाप का त्याग भी इस प्रतिमा में किया जाता है। और यदि किसी साधक का मन दृढ़ हो जाए तो जीवन पर्यन्त के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा भी ली जा सकती है। अगली सातवीं प्रतिमा में सचित्त आहार का वर्जन किया गया। आठवीं प्रतिमा के अन्तर्गत आठ माह तक स्वयं गृहस्थोचित आरम्भ समारम्भ छोड़ दिए पर नौकर चाकर से करवाने बन्द नहीं किए। इतनी भूमिका तैयार होने के पश्चात् नौ महीने की नौवीं प्रतिमा में नौकरों से काम करवाना, अपने लिए किसी वस्तु को तैयार करवाना छोड़ दिया। दसवीं प्रतिमा दस महीने तक चलती है। इसकी आराधना करते हुए आनन्द ने नियमानुसार परिवार से आने वाले उस भोजन को लेना बन्द कर दिया जो भोजन परिवार ने उनके निमित्त से बनाया होता। घर से इतना

मात्र संपर्क रखना होता है कि यदि कोई सदस्य ये कहता हो कि हमें ऐसा-2 काम करना है, तो श्रावक उत्तर में इतना उत्तर देता है कि समझ गया या मेरी समझ में नहीं आता। शरीर के सम्बन्ध में उसकी मर्यादा ये है कि जरूरत पड़ने पर उस्तरे से सारे बालों का मुण्डन करवा ले यदि लौकिक रस्म का पालन आवश्यक हो तो शिखा रख ले। ग्यारहवीं 'श्रमण भूत' प्रतिमा है- जिसका कालमान ग्यारह महीने का है। श्रावक की अधिकतर चर्या और मर्यादा श्रमण-मुनियों जैसी हो जाती है। साधु तो वह इसलिए नहीं है क्योंकि उसका परिवार से लगाव जुड़ाव है। वह उस घर का सदस्य है पर साधना का स्तर काफी कुछ साधुओं जैसा हो जाता है। वह साधुओं जैसा वेष अपना लेता है। जीवरक्षा के प्रति साधुओं के समान अतिरिक्त सावधानी रखता है। साधुओं की तरह उसके सामने दाल और चावल में एक पका हो तो एक ही लेता है दूसरा द्रव्य नहीं लेता। गृहस्थों के घर जाकर भिक्षा लाता है। इन सब निमयों को निभाने वाले श्रावक को लोच करने की छूट भगवन्तों ने दी है। वह चाहे तो लोच करवा सकता है नहीं तो क्षुर-उस्तरे से मुण्डन करवा सकता है।

आनन्द श्रावक ने लोच करवाया या नहीं? ये वर्णन आगम में नहीं पर संभावना की जा सकती है कि उसने लोच नहीं करवाया होगा। ये संभावना इस आधार पर उभरती है कि उस श्रावक की अनेकानेक क्रियाओं का वर्णन आगम में है, यदि लोच किया होता तो उसका उल्लेख हुए बिना नहीं रहता। जैसा कि हर साध साध्वी के दीक्षा प्रसंग पर लोच का उल्लेख अनिवार्यरूप से आगमकारों ने किया है। 'पंचमुट्ठिलोयं करेइ"। बारह व्रतों को दीर्घ काल तक सुविशुद्ध पालन, ग्यारह प्रतिमाओं के क्रमशः यथागम निर्वहण के पश्चात् ही लोच की भूमिका बन सकती है। इतनी स्पष्टता के वावजूद आज के युग में कुछ सम्प्रदायों ने श्रावकों के लिए लोच की परम्परा डाली है। यह सरासर आगमेतर प्रथा का प्रचलन लगता है। जो श्रावक अंधाधुंध व्यापार में संलग्न है, जिन्हें ब्रह्मचर्य का नियम नहीं, बारह व्रत भी गृहीत नहीं हैं,

नैतिकता को विरुद्ध अन्याय पूर्वक कमाई करते हैं, नियमित रूप से सामायिक संवर भी नहीं करते, वे यदि ग्यारहवीं प्रतिमा के पालनकर्ता के वैकल्पिक नियम 'केशलोच' को अपनाते हैं तो लगता है- राजाओं का मुकुट किसी दीन हीन दरिद्र के पैरों पर बांधा जा रहा है। जिन शासन के प्रतीक के साथ खिलवाड़ की जा रही है।

ये सत्य है कि लोच बहुत बड़ी साधना है, जो इसको सेवन करेगा वह आत्म कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होगा। परन्तु क्या इस मुकाम पर पहुंचने से पहले जिन मोड़ों मरहलों को पार करना आवश्यक होता है, उन्हें बिना छुए अकेला लोच कल्याणकारी हो सकता है?

अधुनातन साधु समाज में कुछ साधु साध्वी महाराज एकाकी विचरते हैं और वे फरमाते हैं कि "एकाकी विचरना तो बहुत बड़ी साधना है"। साधु महाराज के तीन मनोरथों में से एक मनोरथ है। ये तो निर्भारता है सहाय प्रत्याख्यान है।' परन्तु जो संघ आगमवादी हैं क्या उनके तर्कों से सहमत होंगे? क्या अपने संघ के मुनियों को, साध्वियों को प्रेरित करेंगे कि आगे बढ़ो, अकेले रहो, निःसंगता बढ़ेगी और अधिकाधिक कर्म निर्जरा होगी। संघ के झंझटों से मुक्त हो जाओगे। नग्नत्व अपना लो, विशुद्ध चारित्राराधना के अधिकारी बनोगे और विशिष्ट निर्जरा कारक भी।

लेकिन नहीं, क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि ये प्ररूपणा और प्रोत्साहन आगमेतर हो जाएगा। नग्नत्व का मण्डन आचारांग में है, एकाकी विचरण की प्रेरणा है। पर उस स्थिति पर जाने के लिए साधक को और शर्तें भी तो पूरी करनी होती हैं। पूर्वों का ज्ञान हो, भिक्षाकाल सुनिश्चित हो, एक दो रात से अधिक कहीं निवास न हो, वृक्षों के नीचे या बागों में रहता हो, सोने के लिए सूखी घास भी न लेता हो, आग लग जाए तो अन्दर से बाहर, बाहर से अन्दर न जाने की प्रतिज्ञा रखता हो, कांटा, कंकर चुभने पर निकालने का प्रयास न हो, आंखों में पड़े तिनके को भी न निकालता हो, जहां सूर्यास्त हो जाए, कितना ही भयानक स्थान

हो वहां से एक कदम भी आगे पीछे नहीं जाता हो, हाथी घोड़ा बैल का खतरा देखकर रास्ता न बदलता हो, शरीर के आराम वास्ते धूप से छाया, छाया से धूप में न जाता हो इत्यादि अनेक शर्तें पूरी किए बिना एकल विहार प्रतिमा अनुमत नहीं है। ये दृष्टिकोण आगम का दृष्टिकोण समझने वाले हर मुनि का, संघ एवं सम्प्रदाय का है।

इसलिए पंचम काल में जिनकल्प तथा एकल विहार प्रतिमा का निषेध सभी ने स्वीकार किया है तथा अकेले विचरने वाले साधु साध्वी से अधिक सम्पर्क नहीं रखा जाता। प्रोत्साहन की तो बात ही अलग है।

एकल विहार प्रतिमा बहुत ऊंची साधना है मगर उसके लिए अन्यान्य योग्यताएं होंगी तभी तो वह ऊंची कहलाएगी। अन्यान्य योग्यताएं पूर्ण किए बिना जैसे एकाकी विचरण गल्त है ऐसे ही बारह व्रत के पर्याप्त पालन तथा ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुंचे बिना लोच करना श्रावक के लिए गल्त होना चाहिए। साधु साध्वी भी प्रोत्साहन दें तो आगम विरोध मानना चाहिए।

श्रावक वर्ग में त्यागरूचि जागृत हो, भोग प्रवृत्ति न्यून हो, ये प्रयास सर्वथा अनुमोदनीय है और इसी विचारधारा से श्रावक वर्ग में अचित्त भोजन, दिवा भोजन, शीलपालन विविध तपस्याएं चली और चलने दी। यद्यपि इन सबके लिए आगमों में कोई विधान नहीं पर युग प्रवाह के साथ ये प्रारम्भ हुए तो चल ही रहे हैं इनको बरकरार रखा जाए मगर लोच जैसी कठोर चर्या गृहस्थों तक पहुंचाकर इसकी गरिमा का ह्रास न किया जाए।

एक ओर सरकारी तन्त्र में जैन मुनियों की लोच पद्धति को लेकर दुष्प्रचार किया जा रहा है कि ये छोटे-2 बाल मुनियों और साध्वियों के केश फाड़कर अत्याचार कर रहे हैं, दूसरी ओर कुछ अत्युत्साही जैन मुनिवर्ग की निजी व्यवस्था को सार्वजनिक बनाने पर तुले हुए हैं। जैन धर्म की मूल दृष्टि को यदि अजैन विचारक समझ नहीं पा रहे तो लगता है शायद जैन भी समझने से काफी दूर हैं। मुनि चर्या से जुड़े पहलू

जैसे-2 श्रावकों के द्वारा अपनाए जाने लगे हैं, वैसे-2 उनकी गुणवत्ता, गंभीरता, उपयोगिता और प्रासंगिकता घटने लगी है। श्रावकों को लोच करना या करवाना जिन शासन के समुज्ज्वल इतिहास की विकृति बन सकती है। और भविष्य के लिए पैरों के जंजीर। आगमों में कोई तो उदाहरण हो जो इस नवीन उद्भावना को समर्थित कर दे।

आनन्द आदि दस श्रावकों के अलावा औपपातिक सूत्र में वर्णित अम्बड़ परिव्राजक जैसे त्यागी श्रावक ने भी लोच को अपनी चर्या का अंग नहीं बनाया। जरा उसकी चर्या का अवलोकन करें और अधुनातन श्रावकों के जीवन की तुलना करें जो भावुकता वश लोच को सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि मान रहे हैं।

अम्बड़ तथा उसके 700 शिष्य भगवान् महावीर के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे, उन्हें ही अपना आराध्य और आदर्श मानते थे।

I उन्हें तलाब बावड़ी नदी आदि में प्रवेश करके स्नान करने का त्याग था पर लोच वे भी नहीं करते करवाते थे। वर्तमान युग में लोच करवाने वालों को क्या इतना त्याग है?

II वे किसी गाड़ी, छकड़ा, पालकी आदि की सवारी नहीं करते थे, वाहन त्यागी थे पर लोच तक वे भी नहीं पहुंचे। वर्तमान काल में लोच करवाने वाले श्रावक वाहन का प्रयोग करते हैं, छोड़ा नहीं है।

III वे ऊँट, घोड़ा, हाथी, बैल, भैंस आदि पर नहीं बैठने का नियम रखते थे, फिर भी लोच उनका जीवनांग नहीं था, आजकल के श्रावकों के साथ ऐसा नहीं है।

IV वे नाटक खेल तमाशा ड्रामा आदि नहीं देखते थे। इतनी कठोर साधना के बावजूद लोच तक नहीं गए। क्योंकि लोच श्रावक के लिए विहित नहीं है। आज की स्थिति पर भी ध्यान दें।

V हरियाली उखाड़ना, मसलना, इकट्ठा करना उनके लिए निषिद्ध था पर लोच से वे दूर रहे। आज जिनको हरियाली काटने छूने का त्याग नहीं है वे लोच करवा रहे हैं।

VI लोहे, ताम्बे, चांदी, स्वर्ण आदि के बहुमूल्य पात्र उनके लिए वर्जित थे, केवल तुम्बी, लकड़ी और मिट्टी के वर्तनों से जीवन यापन करने वाले वे परिव्राजक गृहत्यागी होकर भी लोच नहीं करवाते थे और आज गृहस्थों ने अनुमति ले ली।

VII उनके वस्त्र गैरिक धातु के अलावा और किसी रंग वाले नहीं हो सकते थे, लेकिन पूर्ण जैन मुनि या श्रमण भूत बने बिना लोच न होने से वे लोच नहीं करवाते थे पर आज लोच करने वाले श्रावकों को काफी छूट मिल रही है।

VIII एक ताम्बे के यज्ञोपवीत के अलावा किसी प्रकार का आभूषण हार, कड़ा, कुण्डल, मुकुट उन्हें पूरी तरह निषिद्ध था, ऐसी संन्यास साधना के पालक परिव्राजक भी लोच को अनिवार्य नहीं मानते थे। लेकिन इस युग के लोच प्रिय श्रावकों को क्या ये नियम हैं?

IX उन्हें फूलमाला आदि का लगभग नियम था। अगरु, चन्दन, केसर आदि सुगन्धित लेप लगाने का प्रत्याख्यान भी था क्योंकि संन्यास में ये चीजें नहीं चलती पर केशों का लोच नहीं करवाया। मौजूद केश लोच करवाने वाले उपरोक्त नियम के धारक बिना बने उससे आगे बढ़ गए।

X वे पानी भी बिना आज्ञा पीते नहीं थे। जैन मुनि की तरह उसे अदत्तादान मानते थे। इतनी कठोरता के कारण अम्बड़ परिव्राजक के शिष्यों ने अदत्त पानी पीने की बजाय संथारा कर लिया और पांचवें देवलोक में गए। क्या वे यदि लोच करवा लेते तो उनसे वह पीड़ा सहन नहीं होती? लेकिन नहीं, जैन भिक्षु के प्रतीक चिन्ह को उन्होंने स्वयं अपनाकर अनादृत नहीं किया।

जिस व्यक्ति वर्ग या संस्कृति का जो अंग चिरकाल से बना हुआ हो वह उसे ही सजता और जंचता है। अन्य द्वारा अपनाया जाने पर न उस अंग की शोभा बचती तथा न अपनाने वाले की छवि बनती।

श्रावक लोच के समर्थक कह सकते हैं कि अपने शरीर पर होने वाली पीड़ा को सहन करना बड़ी बात है, अतः उस प्रक्रिया में से गुजरने वाले श्रावकों को दाद मिलनी चाहिए तथा प्रेरणा देने वाले साधु साध्वियों को समर्थन। परन्तु जैन धर्म को यथार्थ में समझने वाले व्यक्ति के सामने ऐसा कर पाना इसलिए कठिन होता है क्योंकि पीड़ा सहन मात्र ही जैनों का लक्ष्य नहीं है, न उसे धार्मिकता और आध्यात्मिकता का अभिन्न अंग माना। यदि पीड़ा सहन ही धर्म हो तो मुहर्रम के अवसर पर हजारों लाखों मुस्लिम युवक अपने शरीर को चाकुओं से काट लेते हैं, जंजीरों से पीटते हैं, खून से लथपथ हो जाते हैं तथा बाद में दवाई नहीं लेते, मरहम पट्टी नहीं करवाते। दक्षिण भारत में कई मंदिरों की रथयात्रा के दौरान भक्तगण अपनी जीभ को बींध देते हैं। एक गाल से दूसरे गाल तक भाला चुभा देते हैं। ईसाई जगत में कई स्थानों पर क्राइस्ट की स्मृति में छाती में कीलें गाड़ी जाती हैं, अलग-2 धर्मों में अलग-2 ढंग से पीड़ा सहने की विधियां है, क्या वे सब प्रशंसनीय, अनुमोदनीय और महानिर्जरा कारक हैं?

यदि आज कुछ भाई केश लोच का कष्ट सहकर परम धार्मिकता की अनुभूति कर रहे हैं तो कल कोई अपने हाथ पैरों के नाखूनों को उखाड़कर उत्कृष्ट धार्मिकता की नई पद्धति प्रारम्भ कर सकता है। मुनियों का लोच देखकर श्रावकों में स्वयं लोच करवाने की भावुकता उमड़ जाती है। फिर श्रावकों का लोच देखकर तो अन्य श्रावकों के भावुक होने की संभावना बढ़ती ही बढ़ती है। देखादेखी में, भावुकता में लोच करवाना उसी तरह वर्जनीय है जैसे दीक्षा लेना। भावना और भावुकता का स्वरूप एक नहीं होता। जैन धर्म भावना को मुख्यता देता है भावुकता को नहीं। जैसे कोई व्यक्ति भावुकता वश एकदम

दीक्षा लेना का आग्रह करने लगे तो साधु और श्रावक संघ उसे रोकता है, ऐसे ही भावुकतावश लोच को भी रोका जाना आवश्यक है। हाँ, यदि किसी व्यक्ति के मन में दीक्षा का भाव है, साधना का मर्म जान चुका है, वैराग्य अभ्यास परिपक्व है, अन्यान्य अपेक्षाएं पूर्ण कर चुका है, पर लोच के कारण आशंकित है वह यदि केश लोच करवाता है तो वाजिव हो सकता है परन्तु ये विवेक तो उसे भी रखना होगा कि केशलोच एकान्त में हो, सर्वाजनिक रूप से नहीं। जैसे कि दिगम्बर परम्परा में दीक्षा के इच्छुक व्यक्ति एकान्त में नग्नत्व का अभ्यास करते हैं, सार्वजनिक नहीं। एक बार नग्नत्व सार्वजनिक हो जाए तो वह नग्नत्व सार्वकालिक मुनित्व में परिणत मान लिया जाता है। ऐसे ही श्वेताम्बर परम्परा में सार्वजनिक लोच होने के बाद साधुत्व का अंगीकार अवश्यंभावी होना चाहिए। अप्रकट अवस्था में एक दो वार करवा लिया तो विरोध भी नहीं होना चाहिए।

विश्व के इतिहासकारों ने जैनों की आत्यन्तिक निवृत्ति प्रधान जीवन शैली पर भारी कटाक्ष किए हैं। उन्हें तो मुनियों का केशलोच भी अप्राकृतिक एवं अत्याचार सा प्रतीत होता है। उन्हें इसके पीछे निहित भाव और तर्कों से सहमत करना ही मुश्किल हो रहा है। ऐसे में गृहस्थों का केशलोच उन्हें समझ आ जाएगा, यह कल्पना से बाहर है। जनमानस में जिनशासन के प्रति विलगाव या अरुचि का भाव इस या इस तरह की क्रियाओं से बढ़ने की संभावना है। यह जिनशासन की सेवा न होकर अशातना भी बन सकती है।

वस्तुतः तो साधुवर्ग अपनी व्यवस्था को चुस्त दुरुस्त रखे श्रावक वर्ग अपनी। एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने से दुर्घटनाओं की संभावना बढ़ती हैं। अमेरिका यूरोप में तीव्र-मध्यम-मन्दगति के वाहनों के लिए अलग-2 सरणियां (Lanes) होती हैं, कोई भी वाहन अपनी Lane छोड़कर दूसरी Lane में नहीं घुसता। अतएव वहां दुर्घटनाएं नहीं वत् होती हैं भारत में Lanes तो बनती जा रही है पर दूसरी Lanes में

घुसने की मानसिकता नहीं छूट रही, इसीलिए दुर्घटनाएं है। भगवान् महावीर ने भी साधु और श्रावक की दो सरणियां बनाई थी। दोनों के पृथक्-2 नियम बनाए। यदि साधु श्रावकों के तथा श्रावक साधुओं के नियमों की होड़ में आएंगे तो सब कुछ गड्डमड हो जाएगा। यदि किसी को तीव्रगति से चलने की रूचि है तो उसे अपना वाहन बदलना होगा। मंदगति का वाहन जब तक आपके पास है तब तक गति भी और Lane भी वही रखनी होगी। वाहन मंदगति का पर लेन तेजवाली और गति भी तेज-दुर्घटना का निमन्त्रण हैं। श्रावक जीवन जब तक है तब तक श्रावकोचित नियम निभाएं। अधिक नियमों की रुचि बन रही है तो साधु बनें। बारह व्रतों को अधिक शुद्धि के साथ, मन वचन काया की समग्रता से निभाने में तीर्थधर्म की सुरक्षा है। न कि साधूचित मर्यादाओं को अपनाने मात्र में। बारह व्रतों के बाद ग्यारह प्रतिमाओं का ग्रहण और आसेवन ही वर्तमान युग में लुप्त हो चुका है तो साधुओं के लोच आदि विधि विधान श्रावकों द्वारा कैसे पालनीय माने जा सकते हैं।

अन्त में, सविनय निवेदन है कि किसी संघ, श्रावक या व्यक्ति विशेष के निजी जीवन का विरोध न मानकर जिन शासन के पारम्परिक प्रतीकों की सुरक्षा का प्रयत्न मानेंगे तो पूर्वोक्त विचारों से कषाय वृद्धि नहीं होगी।

आगमों के भावार्थ को समझने समझाने में कोतही हुई हो—

तस्समिच्छामि दुक्कडं॥

प्रत्याख्यान द्वारा पाप की संभावना के द्वार बंद किए जाते हैं। भविष्यत् काल की सुरक्षा के लिए प्रत्याख्यान का विधान है। किसी व्यक्ति ने मांस, मदिरा, दुराचार का सेवन नहीं किया, न कर रहा है, पर उसे भविष्य के लिए प्रत्याख्यान करवाया जाता है। पर उस के संबंध में ये कहना कि प्रत्याख्यान से पूर्व वह मद्यपायी, मांसभक्षी तथा दुराचारी है तथा इस तरह के पापों से जो कर्मबंध होता है, उस कर्मबंध का कर्ता है। ये वाक्य असत्य है।

यदि कृषि न होती तो मानव जाति को अपनी भूख शांत करने के लिए मांसाहार का सहारा लेना पड़ता। मांसाहार सरीखे महापाप से बचाने का एक मात्र साधन कृषि है और आश्चर्य है कि इसे ही जैन विचारकों ने कर्मादान कह डाला।

भगवान् महावीर को 'श्रमण' विशेषण इसलिए मिला है क्योंकि इनके दर्शन में मुक्ति के लिए 'श्रम' करना पड़ता है, वह किसी परमात्मा की कृपा या कर्म की देन नहीं है। अपितु स्वश्रम से अनित्त आत्मसमृद्ध है। भौतिक स्तर पर हम वैज्ञानिकों को भी श्रमण–श्रम जीवी कह सकते हैं क्योंकि उनकी बदौलत आज अचिंतित आविष्कार हुए हैं।